"श्री सद्‌गुरु प्रसन्न"

{१}

अन्वेषण का उद्देश्य और क्षेत्र

(१) समस्या की ओर चतुर्विध गमन :

इन पृष्ठों का उद्देश्य यह बताना है कि पारमार्थिक जीवन आंगिक वृद्धि है जिसकी जड़ ऐन्द्रिय जीवन के प्रति प्रतिक्रिया, और फल ईश्वर प्राप्ति है। वास्तव में बिरला ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो इस प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय जगत से सम्पूर्ण रूप से व सदैव संतुष्ट हो; ऐसा व्यक्ति भी बिरला ही होगा जो विचार तो करता है परन्तु जीवन और विचारों के अन्तर्विरोधों व असमंजसों से व्यथित नहीं होता; और भी अधिक बिरला तो वह व्यक्ति होगा जो आन्तरिक और बाह्यरूप से टूट जाने पर भी बिना किसी शिकायत के अथवा बिना किसी प्रकार से हतोत्साहित हुए बिना यह कह सकता है कि संयोग और आकस्मिकता की इस ईश्वर विहीन सृष्टि में एक व्यक्ति को अपनी जीवन–नौका अच्छे से अच्छे ढंग से स्वयं आप ही को खे कर ले जाना है। सहानुभूतिपूर्ण विचार और वास्तविक दुःख भोग एक मनुष्य को इन्द्रियों के जाल से परे ले जाकर दर्शनशास्त्र की मूलभूत समस्याओं के सामने ला खड़ा करते हैं। किन्तु यदि सहानुभूति, विचार और दुःख भोग उसकी आत्मा को व्यथित करते ही रहें तो वह दार्शनिक चिंतन मात्र से संतुष्ट न होकर एक ऐसे जीवन के प्रति लालायित होगा जो (उसके व्यथित मन को) सान्त्वना प्रदान कर सके और सांसारिक जीवन के दुःखों से छुटकारा दिला सके। ऐन्द्रिय जीवन के प्रति (यह) प्रतिक्रिया एक व्यक्ति में सांसारिक जीवन के प्रति तितिक्षा उत्पन्न करके अथवा असांसारिक या पारमार्थिक जीवन के लिए लालसा उत्पन्न करके ही नहीं रह जाती उसके लिए आत्मिक एवम् सांसारिक ऐसे द्विविध जीवन में संतुलन कैसे उत्पन्न किया जाय यह एक नयी समस्या समाधान के लिए प्रस्तुत हो जायेगी। समय पाकर आत्मा का यह ज्ञान निश्चित रूप से ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप 'उद्‌घाटित' होता ही है। परमात्मा से मिलने के लिए किये जाने वाले संघर्ष में आत्मा चुपचाप, निरन्तर किन्तु अधिकाधिक प्रसन्न रहती है। नैतिकता और ध्यानरूपी दो पंखों की सहायता से वह परमात्मा से मिलने के लिए उड़ान भरती है परन्तु जब तक वह अपना पृथक अस्तित्व (व्यक्तित्व) बनाये रखती है तब तक वह अपने आपको निरन्तर परमात्मन के साथ रखने में असमर्थ पाती है। अन्त में, वह अपने आपको पूर्णतया समर्पित कर देती है, परन्तु एक बार जब उसका परमात्मा में मिलन हो जाता है तो फिर परमात्मा ही रह जाता है और आत्मा के लिए वहां से लौटकर आना संभव ही नहीं रहता।

जो कहानी हम कहने जा रहे हैं उसकी यही एक संक्षिप्त रूप रेखा है। यह कहा जा सकता है कि इसको असंख्यों बार कहा जा चुका है ओर इसलिए उसे एक बार फिर

से कहने की हमको आवश्यकता नहीं है। जहां तक कथानक की सामग्री का प्रश्न है हम इस आरोप को स्वीकार करते हैं। हमने महाराष्ट्र के संतों के विस्तृत आध्यात्मिक साहित्य का खुलकर, स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग किया है परन्तु हमारा निवेदन है कि उसको जिस सांचे में ढाला गया है वह अवश्य ही ठोस, सरल और आकर्षक प्रतीत होना चाहिए।

हम हमारे आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से परिचित हैं। बाह्य शत्रुओं ने पारमार्थिक अनुभवों के प्रति अनेक कारणों से संदेह प्रकट कर उन्हें तिरस्कृत किया है। उनका कथन है कि धर्म का कारण भय है; वह भ्रम से प्राकृतिक तथ्यों अथवा घटनाओं को देवता के रूप में देखता है; वह मानव–आरोपण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; वह मुख्य रूप से दृष्टि भ्रम, बुद्धि भ्रंश और असामान्यताओं से ही निर्मित है; वह यौन–प्रवृति की तृप्ति का एक साधन है, अन्धविश्वास का प्रतीक है, विज्ञान की इससे संगति नहीं बैठनी और यहां तक कि जान–बुझकर गढे गये मिथ्या तथ्यों व पाखंडपूर्ण मिथ्याचारों का वह एक संकलन मात्र है। हमारे मित्र और प्रशंसक भी अनजाने में आन्तरिक शत्रुओं का कार्य करते हैं क्योंकि वे बिना पूरी जानकारी प्राप्त किये विषय–चर्चा करते हैं, अन्धविश्वासों और तथ्यों को अथवा अनुकरण और वास्तविकता को एक समझकर गड़बड़ उत्पन्न करते हैं। हम धर्म और पारमार्थिक अनुभवों के विरुद्ध इन सभी आक्षेपों का निराकरण निश्चित और असंदिग्ध रूप से यह बता कर करेंगे कि हमारा संबंध कपोल–कल्पनाओं से न होकर वास्तविक तथ्यों से है।

हमारा अध्ययन न तो उपदेशात्मक ही है और न पक्षमंडनात्मक ही; यह तो संतों द्वारा अभिव्यक्त पारमार्थिक अनुभवों की तर्क–प्रधान तथा सहानुभूतिपूर्ण होते हुए भी आलोचनात्मक परीक्षा है जिसका उद्देश्य उन अनुभवों में जो कुछ सत्य और स्थायी है उसकी खोज करना है। और क्योंकि तात्विक दृष्टि जो सत्य है वह अनुभव की दृष्टि से भी सत्य ही होता है, हमारा उद्देश्य यह बताना भी रहेगा कि इस सत्य को आदर्श स्वीकार कर वास्तविक जीवन में किस प्रकार शनैः शनैः उतारा जा सकता है। दूसरे शब्दों में पहले तो पारमार्थिक अनुभव के स्वरूप की तात्त्विक समस्या पर विचार करेंगे और एक कसौटी खोज निकालेंगे जिसकी सहायता से वास्तविक साक्षात्कारी सत्य के अनुभव को असाक्षात्कारी अथवा साक्षात्कारी होने का आभास मात्र देने वाले अनुभवों के समूह से पृथक किया जा सके; इसके अतिरिक्त पारमार्थिक जीवन के विकास या वृद्धि की उतनी ही महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक समस्या को लेंगे; फिर तृतीय में नैतिक और भक्तिविषयक तैयारी तथा संत–जीवन के विशिष्ठ चिन्हों का विवेचन करेंगे। अतः पारमार्थिक जीवन का यह विश्लेषण चार अर्थात् तात्त्विक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक और साक्षात्कारी दृष्टिकोणों से किया जायेगा। पारमार्थिक अथवा साक्षात्कारी जीवन के ढांचे को, उसकी प्रक्रियाओं को और उसके कार्य–कलापों को प्रस्तुत करने का हमारा यह प्रयत्न हमारे मत में प्रो0 (प्राध्यापक) रा.द.

रानडे के अत्यन्त सम्म्न्य और चिर स्थायी ग्रंथ 'महाराष्ट्र में साक्षात्कार'[⊗] को छोड़ संभवतया भारतवर्ष में अपने ढंग का प्रथम ही है। पश्चिम ने धर्म के दर्शन ओर मनोविज्ञान पर विशाल साहित्य–राशि प्रस्तुत की है; परन्तु खेद की बात है कि इस क्षेत्र में भारतीय दृष्टिकोण को निष्पक्ष पूर्वाग्रहमुक्त, आलोचनात्मक और सत्याधारित रूप से प्रस्तुत करने को कोई गंभीर प्रयत्न अब तक नही किया गया है।

(२) **उपयुक्त विधिः** वो लोग जो धर्म को सामाजिक प्रक्रिया मात्र मानते हैं वे भले ही 'सांख्यिकी औसत की विधि' अथवा प्रश्न विधि को अपना कर कुछ ऐसी समस्याओं का – जैसे कि 'मन–परिवर्तन' किशोरावस्था में ही घटित होने वाली प्रक्रिया है या नहीं; अथवा धर्म और इन्द्रजाल साररूप में एक ही है अथवा नहीं – विवेचन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए एमिस, जेवॉन्स और डरकिम धर्म के विषय में यही दृष्टिकोण अपनाते हैं। प्रा. एमिस के शब्दों में 'धर्म सर्वोच्च सामाजिक मूल्यों चेतना है'।[१] धर्म की सामाजिक उत्पत्ति को मानना चाहे कितना ही उपयोगी क्यों न हो उसका एक निश्चित परिणाम यह होता है कि उस सामाजिक उत्पत्ति को ही इस बात के लिए प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जाता है कि धर्म आज पुराव शेष मात्र रह गया है। तथा जैसे कॉन फार्ड महोदय कहते हैं 'सामूहिक चेतना जिसमें से धार्मिक चेतना की उत्पत्ति भी हुई है, तर्क से कहीं अधिक निम्न स्तर पर अवस्थित हैं।[२] स्वयं प्रेट भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि एक व्यक्ति में सामाजिक प्रभावों के हस्तक्षेप बिना भी धार्मिक आदर्श और भावनाओं का उदय संभव है तथा अपने इस कथन के प्रमाण में दो गूंगे बहरों, मि0 बैलार्ड और मि0 डी0 एस्ट्रेला का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रेट का कथन है कि मि0 डी0 एस्ट्रेला के विचार में चन्द्रमा एक आग की गेंद है जिसे एक शक्तिशाली व्यक्ति जो किसी न किसी प्रकार आकाश के पीछे छुपा हुआ है मनोरंजन के लिए प्रति प्रातः उसे ऊपर उछाल देता है और संध्या होने पर उसे फिर से पकड़ लेता है।

समाजशास्त्रीय मनोवैज्ञानिकों ने धार्मिक समस्याओं के विषय में जो कुछ लिखा है उस पर हमारे वर्तमान अध्ययन में विचार करना और उनके विरूद्ध आलोचनात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करना व्यर्थ और असंभव होगा। उनमें से अधिकांश ने धान्य–कण को छोड़कर भूसे को कूटने का प्रयत्न किया है। हमारे लिए धर्म का अर्थ मुख्य रूप से ईश्वर से सीधा व्यक्तिगत संबंध है, अतएव सामाजिक समस्याओं का मूल्य उस सम्बन्ध के लिए पृष्ठ भूमि अथवा वातावरण के रूप में काम करने के कारण ही प्रतीत होता है। 'सामाजिक पशु' होने के नाते मनुष्य निश्चय ही समाज का ऋणि है क्योंकि समाज उसे अपनी नैतिक और पारमार्थिक योग्यता प्रकट करने के लिए अवसर प्रदान करता है। परन्तु किसी भी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर का सहभागी बनने की व्यक्तिगत स्थिति अथवा

[⊗] 'Mysticism in Maharashtra'

[१] Psychology of Religious Experience, p. 168 (quoted By Pratt)

[२] From Religion to Philosophy.

आनन्दातिरेक की स्थिति एक सामाजिक प्रक्रिया है अथवा पुनीत व दूषित का भेद एक सामाजिक भेद है। पूजा के योग्य सचमुच जो 'वस्तु' है वह सदैव ईश्वर ही है समाज नहीं। समाज कभी भी वैसा पूजनीय नहीं हो सकता जैसा कि डर्कहिम महाशय उसे बनाना चाहते हैं। क्योंकि समाज में अच्छे और बुरे, संत और पापी तथा (ईश्वर में) विश्वास करने वाले व उसमें अविश्वास करने वाले सभी प्रकार के लोग मिलते हैं और यद्यपि ऊपर से कहने में यह अच्छा लगता है और संभवतया यह कहने का एक सुंदर ढंग भी है कि हमें समाज के रूप में ईश्वर की पूजा करनी चाहिए, परन्तु इस संदर्भ में जो भूल प्रायः की जाती है वह यह है कि पूजा समाज की ही की जाती है और ईश्वर को भुला दिया जाता है यद्यपि इस बात पर हमें पूरा संदेह है कि पहिले ईश्वर की पूजा किये बिना समाज की पूजा करना संभव भी है यह नहीं। जैसा समर्थ रामदास कहते हैं हमें सामान्य व्यक्ति में और उस व्यक्ति में जिसने ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है अवश्य ही भेद करना चाहिए। ईश्वर को प्राप्त करने के बाद सच्चे रूप में समाज के लिए उपयोगी प्रमाणित होना अथवा स्वयं अपनी नैतिक और पारमार्थिक तैयारी के लिए समाज से लाभ उठाना एक बात है और सामाजिक चेतना और सुंदर शारीरिक स्वस्थता के उत्साह में मदान्ध होकर ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करना या उसे भुला देना बिल्कुल ही दूसरी बात है।

पारमार्थिक जीवन मुख्य रूप से ईश्वर के साक्षात्कार का व उसके नाम पर किये गए मौन ध्यान का नाम है। स्पष्ट ही 'सांख्यिकी विधि' अथवा 'प्रश्न विधि' उसे (ईश्वर को) खोज निकालने की दृष्टि से अथवा अपने ढंग के निराले इस जीवन से सम्बन्धित समास्याओं के समाधान के लिए सर्वथा अनुपयुक्त और निरर्थक है। यदि प्रश्न पूछने ही है तो संतों से पूछने चाहिए, परन्तु एक तो वे बड़ी संख्या में मिलते ही नहीं और फिर वे ऐसे विशिष्ठ स्थानों पर भी उपलब्ध नहीं होते जहां सब लोगों की पहुंच हो। एक तो संतों का अस्तित्व ही विरल है और फिर उनको ढूंढ निकालना तो और भी अधिक विरल है। पारमार्थिक रहस्यों को खोज निकालने का एक मात्र तरीका संतों के साहित्य का अत्यन्त सावधानीपूर्वक अध्ययन करना और फिर 'तुलनात्मक विधि' का प्रयोग करके उस जीवन के तथ्यों को ढूंढना तथा उनके आधार पर धर्म–शास्त्र के दर्शन का और मनोविज्ञान का प्रतिपादन करना है। विभिन्न संतो ंके अनुभवों का तुलनात्मक अध्ययन करने से ही हमको किसी विशिष्ट निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हो सकते हैं। यदि अन्य सभी बातों में, यथा युग, जलवायु, भाषा इत्यादि में विभिन्नता होते हुए भी उनके विचारों में समानता पाई जावे तो उन विचारों के सत्य होने का वह पुष्टतम प्रमाण होगा। उदाहरणार्थ, संत तुकाराम का कथन हि 'रात–दिन हमारे लिए युद्ध का प्रसंग रहता है' की तुलना उससे अत्यन्त मिलते हुए संत पॉल के इस कथन से की जावे कि 'प्रतिदिन मेरा मरण होता है', तो हमें निश्चयपूर्वक ज्ञात होता है कि पारमार्थिक जीवन निरंतर संघर्ष का जीवन होना चाहिए। जितनी ही अधिक तुलना की जावेगी हमें अपने पूर्वाग्रहों से उतनी ही अधिक मुक्ति प्राप्त होगी और तब पारमार्थिक जीवन के उन तथ्यों के विषय में हमें उतनी ही

अधिक वस्तुगत प्रामाणिकता प्राप्त हो सकेगी। स्टेनले कुक के शब्दों में 'हमें उनके प्रसंग विशेष अथवा युग विशेष की ओर ध्यान दिये बिना ही तुलना योग्य समस्त सामग्री का पूर्वानुग्रहमुक्त समन्वय प्राप्त हो सकता है।'[9] और फिर क्योंकि पारमार्थिक जीवन में वृद्धि, विकास और संगठन पाया जाता है अतः हम यहां उत्पत्ति मूलक विधि का प्रयोग भी करेंगे। स्वयं अपने अनुभवों के अभाव में इस विधि का प्रयोग करना व पारमार्थिक वृद्धि की विभिन्न स्थितियों के विषय में विश्वासपूर्वक कुछ भी कहना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। हम हमारे इस प्रयत्न में कहां तक सफल हो पाये हैं यह बात हमारे कहने की नहीं है।

दर्शनशास्त्र की कुछेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं के विवेचन का समावेश करने का यहां अवकाश नहीं। उदाहरण के लिए हम मृत्योत्तर जीवन की समस्याओं के या अवतार अथवा कर्म–सिद्धांत के पक्ष या विपक्ष में कुछ भी नहीं कहेंगे। इन समस्याओं पर दोनों पक्षों की ओर से पर्याप्त अनुमान लगाया जा सकता है और बहुत कुछ कहा जा सकता है। हमारा सम्बन्ध पारमार्थिक जीवन के तथ्यों से है न कि उन बातों के विषय में अनुमान लगाने से जो उस जीवन का स्पर्श तक नहीं करते। ऐसा कहने से भारत के कुछ श्रेष्ठत्तम विचारकों को बुरा लग सकता है क्योंकि उनका श्रीकृष्ण के इन कथनों पर कि 'स्वयं उन्होंने और अर्जुन ने कई बार जन्म धारण किया है' और 'सिद्धि कई जन्मों के पश्चात ही प्राप्त हो सकती है' अटूट विश्वास है। समय समय पर संतों ने भी यही बात कही है परन्तु उनका उद्देश्य लोगों को अधिकाधिक पारमार्थिक बनाना है (और यही उद्देश्य भगवद्गीता का भी है) और इस प्रकार उन्हें ईश्वर–साक्षात्कार के वास्तविक अमर जीवन को जी सकने की सामर्थ्य प्रदान करना तथा जन्म–मरण के चक्कर का व कर्म–बंधन का अंत करना है। पुनर्जन्म और कर्म–सिद्धांत में विश्वास का उपयोग संतों ने नैतिक व पारमार्थिक जीवन की प्रगति को उत्तेजना प्रदान करने के लिए किया है न कि भारतीय दर्शन के मुख्य गढों के रूप में। हमें यह ज्ञात नहीं कि ये सिद्धांत अपनी संगति की किसी वस्तुगत प्रामाणिकता का संकेत कर सकने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं या नहीं, परन्तु वे, चाहे विश्वास हों या विश्वास का ढोंग, किसी एक उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान हैं। विश्व में प्रलय हो जाने पर शायद सभी को ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो सकती है परन्तु स्वामी रामदास पूछते हैं कि जब सारी सेना मारी जा चुकी हो तब राजा बनना कौन चाहेगा? इससे विपरीत जब सभी कुछ ठीक अवस्थित हैं तभी वह राज्योपभोग करना चाहेगा। रामदास स्वामी तो यहां तक कहते हैं कि इसी जीवन में जो ब्रह्मानुभव प्राप्त हो सकता है वह ठोस, रोकड़ा मूल्य है और सुदूर भावी जीवन में प्राप्त होने वाला सम्भावित, अनिश्चित और उधार के मूल्य से अतुलनीय रूप से अधिक श्रेष्ठ है।

[9] Encyclopaedia of Ethics & Religion, X, p. 664

प्रो0 (प्राध्यापक) प्रिंगल पेटिशन अपनी पुस्तक 'अमरता का प्रत्यय'[1] में ठीक ही प्रतिपादित करते हैं कि सर्वोच्च नैतिक धारणाएं भावी पुरस्कार अथवा दंड के विचार से सर्वथा स्वतंत्र होती हैं और वे इसे प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हुए बताते हैं कि 'ऑल्ड टेस्टामेण्ट' अथवा 'स्टॉइक' दार्शनिकों का उच्च नैतिक जीवन–स्तर बिना भावी जीवन में किसी प्रकार का विश्वास किये ही सम्भव हुआ था। जैसा डबल्यू0बी0सेल्बी कहते हैं 'मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वास्तव में महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि भावी अमरता की आशा नैतिक जीवन के एक प्रेरक व इस मरणशील जीवन की अनेकानेक अपूर्णताओं व अन्यायों के निराकरण के एक साधक के रूप में उपलब्ध होता है'।[2] हमें यह मानने में भी कठिनाई है कि भावी जीवन में विश्वास के अभाव में विश्व की नैतिकता की नींव चूर–चूर होकर गिर जायेगी, तो फिर यह मानने के लिए कि इस प्रकार के विश्वास के बिना पारमार्थिक जीवन संभव ही नहीं होगा और भी कम औचित्य रह जाता है। इसके विपरीत, भावी जीवन और कर्म–सिद्धांत में हमारे विश्वास को जो शक्ति प्राप्त है वह सम्पूर्ण शक्ति व महत्व तर्क–संगति की दृष्टि से उनसे भी पूर्व के कुछ आध्यात्मिक मूल्य जैसे सत्यम्, शिवम् व सुन्दरम् के स्थायित्व एवम् वास्तविकता में विश्वास करने से ही प्राप्त हो जाती है।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हमने ईश्वर के अस्तित्व को मान लिया है। जहां तक हमारे वर्त्तमान विषय (शोध–प्रबन्ध) का सम्बन्ध है हम ईश्वर में विश्वास करते हैं या नहीं इस बात का अधिक महत्त्व नहीं है यद्यपि उसमें विश्वास रखना वांछनीय है। एक रोगी के लिए इस बात का इतना महत्त्व नहीं कि वह वैद्य की योग्यता को स्वीकार करता है यह नहीं; उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह उस दवाई का नियमित रूप से सेवन करे और उस दवाई से उसके रोग का उपचार हो जाये और उसे फिर से स्वास्थ्य–लाभ प्राप्त हो सके। इसी प्रकार एक साधक जो ईश्वर को जानना चाहता है यदि ईश्वर में विश्वास नहीं करता है तो भी उसके इस अविश्वास का अधिक महत्व नहीं होगा क्योंकि उस दशा में भी यदि वह अपने (आध्यात्मिक) गुरू द्वारा दिये गए निर्देशों का पालन करता रहे तो उसे भी परमार्थ लाभ हो जायेगा। उसे ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त होगा और इस तरह प्राप्त साक्षात्कार में ही ईश्वर के अस्तित्व के तर्क व प्रमाण भी मिल जायेंगे। जैसा कि दर्शन शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को ज्ञात है ईश्वर को लेकर दिये जाने वाले तथाकथित तर्कों को उनके विरोधी तर्कों द्वारा काटा जा सकता है और तब ईश्वरानुभव ही एक मात्र ऐसा प्रमाण सिद्ध होगा जिसका विरोध कम से कम उस व्यक्ति के लिये जिसे वह अनुभव प्राप्त हुआ हो संभव ही नहीं हो सकेगा। पारमार्थिक जीवन एक महान प्रयोग है और इसी कारण उसकी दी हुई सामग्री में, उसकी प्रक्रिया में, और उसकी कार्य–विधि में प्रारम्भिक विकास होना उतना ही आवश्यक है जितना कि एक वैज्ञानिक परिकल्पना के प्रयोग–परीक्षण में। वैज्ञानिक प्रयोगों में प्रमाण प्रयोग के अन्त पर जाकर ही मिलते हैं, परन्तु उसके विपरीत

---

[1] Idea of Immortality

[2] Psychology of Religion, Ch. XIV.

यहां तो प्रयोग की प्रक्रिया में, ही यह पता चलने लग जाता है कि 'ईश्वर को जानना ईश्वर ही बनना है।'

(३) **धर्म और रत्यात्मकता**: यह सभी जानते हैं कि मनोविश्लेषकों ने धार्मिक चेतना को उसके सार रूप में रत्यात्मक माना है। विलियम जेम्स ने अपने पुस्तक 'धार्मिक अनुभवों के विविध रूप'[१] में निश्चयात्मक रूप से यह बता दिया है कि चेतना के ये दोनों प्रकार धार्मिक चेतना और रति विषय, भाव दशा, क्षमता और कार्यों में एक दूसरे के आत्यन्तिक विरोधी हैं। प्रो0 रा.द. रानडे ने भी इसी प्रकार अपने ग्रंथ 'औपनषदीय तत्त्वज्ञान का रचनात्मक पर्यावलोकन'[२] में भी निर्णयात्मक रूप से यह प्रतिपादित कर दिया है कि – 'रत्यात्मक सुख कभी भी आनन्दाकलन की इकाई नहीं बन सकता।' उनका विचार है कि धार्मिक चेतना व रत्यात्मकता का सम्बनध केवल साम्यमूलक ही है।

ध्यान में रखना चाहिए कि कामवासनाजनित ऊर्जा विश्व–ऊर्जा का एक रूप मात्र है न कि उसकी सम्पूर्णता। इस कारण यौन प्रवृत्तिका शुद्धिकरण किया जा सकता है और उसे परिष्कृत कर ईश्वर की सेवा में लगाया जा सकता है। कान्होपात्रा ने अपने ऐहिक प्रेम को इसी प्रकार ईश्वर की ओर स्थानान्तरित किया था। यदि नियंत्रण में नहीं रखा जावे तो आध्यात्मिक ऊर्जा भी स्वतंत्र होकर पूरी गति व बल से पानी की तरह अपने सहज और स्वाभाविक निम्नस्तरीय मार्ग को अपना लेती है और तब रत्यात्मक उपकरणों में अपने लिए सरल निर्गमन मार्ग ढूंढ लेती है। यही कारण है कि कुछ ऐसे लोग जो पारमार्थिक प्रगति की सीढी पर काफी ऊंचे जा चुके थे अचानक ही अत्यन्त भयावह ढंग से पतित हो जाते हैं।

यौन–वासना मानव–जीवन का सबसे बड़ा आवेग है। पारमार्थिक जीवन में प्रगति की कुछ भी आशा करने से पूर्व उसे एक सीमा तक संतुष्ट कर लेना चाहिए और फिर भी यही सत्य है कि पारमार्थिक जीवन में प्रगति तभी संभव है जब यौनिक भूख को नियन्त्रित किया जा सके। रामदास स्वामी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि केवल वही व्यक्ति पारमार्थिक ज्ञान को प्राप्त करने की आशा कर सकता है जिसे इन्द्रियों के विषयों से जिसमें यौन प्रवृत्ति भी सम्मिलित है वैराग्य उत्पन्न हो गया हो। और साथ ही वे उतने ही निश्चित शब्दों में चेतावनी देते हैं कि यदि कोई व्यक्ति भूल से इस भ्रम में पड़कर कि उसने मुक्ति प्राप्त कर ली है इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना छोड़ देता है और उनसे प्राप्त सुखों में लीन हो जाता है तो वह मानसिक यन्त्रणाओं से कभी भी मुक्त नहीं हो सकेगा। रामदास स्वामी का यह कथन हमारे लिए एक महत्त्वपूर्ण परामर्श होने के अतिरिक्त हमारे सामने यह तथ्य भी स्पष्ट कर देता है कि पारमार्थिक एवम् रत्यात्मक आवेग दो भिन्न–भिन्न आवेग हैं जो रस्साकशी की तरह मन को एक दूसरे से विरोधी दिशाओं में खींचकर ले जाते हैं। एक में

[१] Varities of Religious Experience.
[२] The Constructive Survey of Upanisadic Philosophy.

होने वाला लाभ दूसरे के लिए हानि प्रमाणित होता है; निष्कर्ष रूप में हम किसी भी दशा में इन दोनों को उनके कार्यात्मक रूप में समान मूल्य का समझ कर संतोष नहीं कर सकते।

किसी अन्य स्थान पर स्वामी रामदास कहते हैं कि मन जब जैसे पारमार्थिक अथवा ऐन्द्रिय मनोग्रन्थि से तादात्म्य स्थापित करता है तब वैसे ही वह या तो परमार्थ की ओर चढता है अथवा इन्द्रियों की ओर उतरता जाता है। इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग में वे कहते हैं कि जिस एक मात्र बात का कीर्त्तनकार को खूब ध्यान रखना चाहिए वह यह है कि कीर्त्तन के समय किसी भी रूप में यौन सम्बन्धी किसी भी प्रसंग का उल्लेख न करे क्योंकि ठीक उसी क्षण उपस्थित लोग भी यौन विषयक भाव में रंग जायेंगे। संतों ने बिना किसी हिचकिचाहट के व असंदिग्ध शब्दों में यह घोषणा की है कि काम–वासना की जो नितान्त आवश्यक और सन्तुलित सन्तुष्टि है वह वैवाहिक जीवन से प्राप्त की जा सकती है और उसके अतिरिक्त उसमें अति आसक्ति अथवा उसका अति सेवन पारमार्थिक जीवन में सर्वथा वर्जित है। उनका मत है कि काम–वासना यदि उचित व संतुलित सीमा से आगे बढ़े तो अत्यनत निर्दयतापूर्वक दबाकर ध्यानाग्नि में जला डालना चाहिए। मनोविश्लेषकों की तरह उनको इस बात का भय नहीं कि दबाये गये संवेग मन के अचेतन में जाकर शक्ति संचय कर लेंगे और दुर्बलता के क्षणों में चेतना में विस्फोटक शक्ति के साथ उभर कर फूट पडेंगे। संतो ंके दृष्टिकोण से यौन प्रवृत्ति की अति के दमन में इस प्रकार के किसी भय से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रथम तो उसे मन की अतल गहराइयों में ले जाकर गाड़ दिया जायेगा और फिर दूसरे में, मन के पास चिन्तन के लिए उसके स्थान पर अन्य साधन उपलब्ध हो जायेगा अर्थात् वह ध्यान करने में लगा रहेगा; और तृतीय में स्वयं ध्यान पारमार्थिक ऊर्जा को इतनी मात्रा में निर्मुक्त करेगा कि वह न केवल रत्यात्मक ऊर्जा को प्रतिसंतुलित कर देगी बल्कि उसे अपने में मिलाकर स्वयं अपनी प्रगति के लिए भी उसका उपयोग कर लेगी; और अन्त में, स्वयं ईश्वर अपने भक्तों पर कृपा कर उनकी ऐसी वासनाओं को नष्ट कर देगा। इसके विपरीत काम–वासना को पूर्ण स्वतंत्रता देकर उसकी तृप्ति के लिए खुला मैदान छोड़ देना पारमार्थिक प्रगति का मार्ग ही बंद करना है।

(४) **इन्द्रजाल (Magic), विज्ञान और कला का धर्म से सम्बन्ध** : अब हम इन्द्रजाल, विज्ञान, कला और धर्म के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करेंगे और यह ध्यान में रखेंगे कि धर्म का अर्थ किसी जाति अथवा देश के विश्वास विशेष से नहीं है; हमारे दृष्टिकोण से विश्व–नियन्ता सत्ता के स्वरूप को समझने के मनुष्य के प्रयत्न तथा उस सत्ता के स्वरूप में अधिकाधिक भागीदार बनने का मार्ग ही धर्म है। हम स्वयं मानवता आरोपण विज्ञान वेता नहीं है अतः हमारा सम्बन्ध इस प्रश्न से नहीं रहेगा कि इन चारों में से किसका प्रचलन पहले हुआ और किसका बाद में। हमारी रूचि तो उनमें से प्रत्येक के स्वरूप और क्षेत्र को निश्चित करने में है ताकि पारमार्थिक जीवन का हमारा ज्ञान उलझनों से, अनिश्चितता व संदेह से मुक्त हो सकें।

हम पहले इन्द्रजाल व विज्ञान के संबंध से प्रारम्भ करेंगे। दोनों ही प्रकृति पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते हैं और इस सीमा तक हम इन्द्रजाल को 'विज्ञान' और विज्ञान को 'सहानुभूतिपरक इन्द्रजाल' कह सकते हैं। इन्द्रजाल का सम्बन्ध जहां केवल शक्ति प्राप्त करने से ही है वहां विज्ञान ज्ञान व शक्ति दोनों ही प्राप्त करना चाहता है। विज्ञान का सम्बन्ध विश्व की जानकारी के क्षेत्र को विस्तृत करने से हैं, इन्द्रजाल इस तथ्य की उपेक्षा करजा है। इन्द्रजाल का उद्देश्य प्राकृतिक घटनाओं व शक्तियों पर सीधा नियंत्रण करना है ताकि अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्तकर वह जीवन की सुख–सुविधाओं को अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त कर सके, अपने प्रिय लोगों की मित्रता व सहवास का आनंद उठा सके, अच्छी फसल व संतान प्राप्त कर सके तथा स्वास्थ्य व धन दोनों को प्राप्त करने में सफल हो सके। अतः लगता है कि इसके कार्य एक साथ ही उत्पादक, रक्षात्मक और विनाशात्मक है। फिर भी इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज के हितों से उतना नहीं जितना व्यक्ति विशेष के कार्यों से है। एक ऐन्द्रजालिक एकाकी मनुष्य की तरह काम करता है; वह अपने मंत्र–तंत्रों को, अनुष्ठान विधि को व ऐन्द्रिजालिक सामग्री को अत्यन्त गुप्त रखता है और अपनी निरर्थक मंत्रावली के शब्दों का जाप जहां तक संभव हो ऐसे स्थानों पर करता है जिसे अन्य कोई नहीं जानता। एक जादूगर का दूसरे जादूगर से शायद ही कभी मित्रतापूर्ण व्यवहार अथवा सहयोग का भाव रहता हो। उनमें प्रायः आपस में झगड़ा ही रहता है और एक जादूगर अपनी जादू की शक्ति के द्वारा दूसरे के जादू के प्रभाव को नष्ट करने में लगा रहता है। इतना ही नहीं यह कहना भी कठिन है कि अपने इन्द्रजाल का स्वामी वह स्वयम् है। इन्द्रजाल यद्यपि एक अर्थ में एक उपयोगी कला है तथापि जादूगर उसे अपना शत्रु बनाने का खतरा भी मोल लेता ही है क्योंकि मंत्र का जाप करते समय यदि वह एक भी भूल कर बैठता है तो उससे जिस आत्मा का आहवान वह करता है वह क्रुद्ध हो जाती है और जादूगर उसके क्रोध का शिकार बनता है। उदाहरण के लिए एक कहानी लें। कहा जाता है कि एक व्यक्ति जिसे देवी को प्रार्थना करनी थी – 'देवी भैरवी, मेरी पत्नि की रक्षा करें' (रक्षतु), भूल से अनजाने में 'रक्षणके' स्थान पर 'भक्षण' (भक्षतु) शब्द का प्रयोग कर गया और इस प्रकार अपनी पत्नि को खो बैठा। अनजाने में की गई एक ही भूल – 'र' के स्थान पर 'भ' के उच्चारण का मूल्य उसे अपनी पत्नि के जीवन से चुकाना पड़ा। इसके अतिरिक्त, एक जादूगर अपने आपको अन्य जादूगरों के सामने शक्तिहीन अनुभव कर सकता है और उनके हाथों भारी पराजय अथवा विनाश तक को प्राप्त हो सकता है।

जब एक जादूगर यह बहाना बनाकर कि उसकी भूतों आदि पर गुप्त तान्त्रिक सत्ता है शक्ति, धन और प्रसिद्धि प्राप्तकर अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में व्यस्त रहता है तब उसके जादू को एक 'धोखाधड़ी की कला' बनना पड़ता है क्योंकि उसकी सहायता से कभी एकाध आकस्मिक सफलता के आधार पर ही वह ग्राहकों को ठगता रहता है। उसके पास न तो वैज्ञानिक की अभिरूचि है, न कलाकार का आनंद और न ही एक धार्मिक व्यक्ति

की स्वतंत्रता व शान्ति ही। ऐसी दशा में उसका इन्दजाल उसे उस वैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक सत्य तक जो वस्तुनिष्ठ और सर्वजनीन है कैसे पहुंचा सकता है? इस प्रकार वह उस सुंदर मूर्त्ति अथवा चित्र के निर्माण का कारण कैसे बन सकता है जो एक स्थायी अर्थ का मूर्त्तरूप है। अथवा अपने अन्तःस्तल में विश्वास और सत्य की मनोदशा का निर्माण करने में भी वह किस प्रकार सफल हो सकता है? या फिर सर्वशक्तिमान, दयालु व कृपावन्त जो सर्वोच्च सत्ता है उसमें विश्वास कैसे उत्पन्न कर सकता है?

इन्द्रजाल और विज्ञान की ही तरह धर्म भी शक्ति व ज्ञान प्राप्त करने से सम्बन्ध रखता है, परन्तु वह शक्ति दिव्य होती है न कि पार्थिव अथवा मानसिक। प्रकृति पर नियंत्रण की तो कामना ही नहीं की जाती यद्यपि कभी कभी एक प्रकार का वस्तुनिष्ठ नियंत्रण अथवा लोकोत्तर शक्ति जो तान्त्रिक शक्ति के समान दिखाई देती है भाव–प्रणव व निरंतर बिताये गये ईश–भक्तिमय जीवन के फलस्वरूप अपने आप ही आ जाती है। प्रत्येक महान संत द्वारा कुछ चमत्कारपूर्ण घटनाओं के किये जाने का उल्लेख मिलता है परन्तु जैसा स्वामी रामदास ने कहा है चमत्कार स्वयं संत नहीं करते, वे तो ईश्वर की कृपा से घटित हो जाते हैं। इसी प्रकार, एक बार जब संत विश्व की प्रकृति को जान लेता है तब यह बात उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं रहती कि उस विश्व के ज्ञातृत्व का क्षेत्र संकुचित होता है अथवा विस्तीर्ण। साक्षात्कारी वस्तु में विश्व की अन्य वस्तुओं की तरह कोई परिवर्तन नहीं होते। वह अपने अनुभव से जानता है कि ईश्वर छोटी सी छोटी वस्तु से छोटा और बड़ी से बड़ी वस्तु से भी बड़ा है। जैसा कि हम 'पारमार्थिक अनुभव का स्वरूप' नामक अध्याय में विस्तृत रूप से विवेचन करते समय देखेंगे पार्थिव वस्तु और पारमार्थिक वस्तु में कुछ भी समानता नहीं है। फिर विज्ञान विज्ञान की दृष्टि से, विज्ञान की वस्तु (पार्थिव) प्रयोग करने वाले से सदैव पृथक रहती है परंतु धर्म के दृष्टिकोण से यह वस्तु (पारमार्थिक) पृथक रहते हुवे भी प्रयोग करने वाले (साधक) के साथ 'एक' भी होती जाती है। साधक स्वयं अपनी 'वस्तु' बनता जाता है। इसके अतिरिक्त पारमार्थिक अनुभव में आने वाली 'वस्तु' संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न कर सकती है, विज्ञान की 'वस्तु' बौद्धिक सुख प्रदान करने में ही समर्थ है। ईश्वर में जाकर शन्ति–उपभोग, ईश्वर की कृपा व ईश्वरानंद के अतिरेक जैसे अनुभवों से विज्ञान सर्वथा अपरिचित है।

कुछ मानवता आरोपण शास्त्री ऐसे भी हैं जो इन्द्रजाल व प्रार्थना की सतही समानता से आकर्षित व प्रभावित होकर यह मानते है कि इन्द्रजाल, प्रार्थना का अपरिष्कृत व प्राथमिक रूप है। वह यह भूल जाते हैं कि इन्द्रजाल के पीछे उद्देश्य है अपनी अलौकिक शक्ति के अदभुत प्रभाव से लोगों को आश्चर्यचकित कर अपने लिए प्रसिद्धि व धन प्राप्त करना, परन्तु प्रत्येक सच्ची प्रार्थना का उद्देश्य ईश्वर के स्वरूप को जानना व उसमें साझेदार बनना है यद्यपि स्वयं अपनी व समाज की भौतिक सुविधा की इच्छा यहां भी सर्वथा अनुपस्थित रहती हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। निस्संदेह अनेक वैदिक प्रार्थनाएं

ऐसी हैं जिनमें भौतिक समृद्धि की कामना प्रकट की गई है और कुछ तो ऐन्द्रजालिक मंत्र–तंत्रों के अत्यंत समान प्रतीत होती है, फिर भी उनमें से अधिकांश के विषय में हम कह सकते हैं कि वह सब जिन देवताओं की पूजा की जाती है उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने का प्रयत्न करती है ताकि समय पाकर वे देवता अपने भक्तों को चरम सत्ता से साक्षात्कार प्राप्त करने का मार्ग बता सकें। जो प्रार्थना करता है वह आवश्यक रूप से ईश्वर की कृपा पर निर्भर करता है फिर चाहे वह ज्ञान–प्राप्ति के लिए हो, संरक्षण के लिए हो अथवा अन्य कुछ कुछ भी जो वह चाहता है उसकी प्राप्ति के लिए हो, परन्तु जिसको इन्द्रजाल में रूचि है अथवा जो किसी कारण बाध्य होकर किसी विपत्ति को दूर करवाने के तथा अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करने के उद्देश्य से किसी देवी–देवता की सेवा–पूजा करता है उसे उस देवता की शक्ति की आवश्यकता है न कि उसकी प्रसन्नता अथवा कृपा की और तब फिर सर्वोच्च प्रभू के ज्ञान की तो बात ही कैसे उठ सकती है? इतना ही नहीं यदि कोई चमत्कारी प्रभाव या घटना घटित हो जाती है तो जादूगर सोचता है कि वैसा उसकी शक्ति के प्रभाव से हुआ है, परन्तु ईश्वर का सेवक उस दशा में भी यही सोचता है कि वह सब ईश्वर ने उसके विश्वास और भक्ति में वृद्धि करने के लिए ही घटित किया है। परन्तु दुर्भाग्यवश यदि भक्तिपूर्ण प्रार्थना का उद्देश्य चमत्कार घटित करना बन जाता है तो प्रार्थना भी शीघ्र ही इन्द्रजाल या जादू के निम्न स्तर पर आ गिरेगी।

जादू व प्रार्थना के सम्बन्ध पर विचार कर लेने के पश्चात अब हम विज्ञान और धर्म तथा कला और धर्म के संबंधों पर व उनके पारस्परिक अन्तर पर विचार करेंगे। हमें जिस एक बात का ध्यान, न केवल इस प्रसंग में ही बल्कि हमारे संपूर्ण विवेचन में रखना होगा, वह यह कि हमारा धर्म से तात्पर्य किसी विशिष्ट धार्मिक विश्वास से न होकर उस सामान्य और सर्वत्र उपलब्ध स्थायी और घनिष्ठ संबंध से है जो मनुष्य और ईश्वर में हो सकता है। सामान्य अर्थ में धर्म से तात्पर्य उन धार्मिक सिद्धांतों में विश्वास है जो परम्परा के प्रभाव से प्रचलित हो चुके हैं। न्यूनाधिक मात्रा में तब धर्म एक ऐसा सिद्धांत–वाक्य बन जाता है जिसके सत्य की जांच नहीं की गई है, और जिसमें 'प्रचलित रीति' की कुछ ऐसी कर्मकाण्डी क्रियाओं का समावेश होता है जिनका पालन अंधविश्वास के कारण ही किया जाता है। हम जिस धर्म की चर्चा करेंगे वह धर्म साक्षात्कारी होगा जिसका अर्थ प्रा0 रा.द. रानडे के शब्दों में 'सत्य से सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध' है। यही एक ऐसा धर्म है जो सम्पूर्ण मानव जाति द्वारा सामान्य रूप से स्वीकृत किया जा सकता है। विज्ञान और कला से धर्म की तुलना कर उनके सम्बन्ध का विवेचन करते समय हम धर्म के इसी स्वरूप का तथा उसका प्राप्रव्य अर्थात ईश्वर का उल्लेख करेंगे। धर्म के इन दो–सामान्य और विशिष्ट–अर्थों का अन्तर बताने के लिए हम सामान्यतः प्रयोग में आने वाले शब्द धर्म के स्थान पर प्रायः अध्यात्म या परमार्थ शब्द का प्रयोग करेंगे।

सर्व प्रथम तो धर्म, विज्ञान व कला दोनों से मिलता–जुलता (समान) है। इसकी (धर्म) विधि व उपगमन वैज्ञानिक हैं और पारमार्थिक जीवन की क्रिया–पद्धति से सम्बन्धित कुछ निश्चित निष्कर्षों को व तत्सम्बन्धी नियमों को निर्धारित करना तथा ईश्वर का मनुष्य से व जगत से संबंध निश्चित करना इसका कार्य है। विज्ञान और कला की ही तरह इसे भी आवश्यक रूप से मनुष्य व बाह्य जगत से काम पड़ता है। एक धार्मिक मनुष्य को एक वैज्ञानिक की ही तरह अन्वय और व्यतिरेक दोनों विधियों से समृद्ध दृष्टिकोण की आवश्यकता रहती है। सर्व प्रथम उसे धार्मिक चेतना सम्बन्धी अनेक तथ्यों एवम् घटनाओं का संकलन करना चाहिए और फिर उनको पृथक–पृथक करते हुए वर्गों में बांटना चाहिए जैसे – परम्परा और रीति–रिवाजों से उत्पन्न, अवैज्ञानिक विश्वास अथवा अन्धविश्वास से उत्पन्न, सन्देह, जांच या बौद्धिक अध्ययन से उत्पन्न, नैतिक आचरण अथवा पारमार्थिक अनुशासन से उत्पन्न। वह महान संतों के जीवन की विशिष्टताओं का और उनकी दिनचर्या का अध्ययन उनके निकट सम्पर्क में आकर करेगा तथा उनके विविध अनुभवों और वचनों को अप्रत्यक्ष रूप से यथा उनकी जीवनियों से अथवा जीवन सम्बन्धी अभिलेखों से प्राप्त करेगा। तभी वह कल्पना–प्रसूत परिकल्पनाओं और अधिकांश में असंयत, प्रचलित और कोरे सिद्धान्त–वाक्यों से सम्बन्धित ऐसी दुर्बोध चर्चा को छोड़ सकेगा जिनका पारमार्थिक ज्ञान के नाम से प्रचलन हो गया है। डींग मारने वाले पाखंडी और दुष्ट लोग परमार्थ में भी उसी प्रकार अनेक हो सकते हैं जैसे अन्य किसी क्षेत्र, यथा चिकित्सा आदि में। ये ध्यान के स्थान पर दवाइयों के प्रयोग की राय देंगे और ईश्वर के गुणानुवाद तथा उत्तम व पवित्र लोगों से सम्पर्क के स्थान पर नृत्य, संगीत व स्त्री–पुरूषों के वासनायुक्त मिलन को प्रोत्साहित करेंगे। नैतिक व पारमार्थिक जीवन के लिए न तो कोई छोटा रास्ता है और न ही छुट्टी मनाने का अवकाश। अतः ईश्वर–साक्षात्कार का एक मात्र राजमार्ग जो साथ ही अत्यन्त कठिन मार्ग भी है, ईश्वर के नाम का भक्तिपूर्ण, मौन व निरंतर ध्यान तथा ईश्वर के स्वरूप का अविचल दर्शन ही है। सर्वोच्च आनंद और शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता यही है और यही मनुष्य का ईश्वर के साथ घनिष्ठ सम्पर्क व तादात्म्य स्थापित करेगा। अन्त में, यह भी पता चल जायेगा कि हमारा ईश्वर के लिए जितना प्रेम है उससे असंख्यों गुना अधिक प्रेम ईश्वर का हमारे प्रति है। यह सब परमार्थ के उन रहस्यों की खोज का फल है जो पुजारियों–पण्डों की दृष्टि से या अनिभिज्ञ लोगों के छिछोरपन से छिपा ही रह जाता है।

फिर भी विज्ञान और धर्म की एक व्यक्ति पर जो प्रतिक्रिया होती है वह भिन्न भिन्न है। विज्ञान की खोजों ने व प्रगति ने जो भौतिक समृद्धि, सुख और सुविधा प्रदान की है व जिनके कारण सुख व आनंद प्राप्त होता है उनका उपभोग तभी तक किया जा सकता है जब तक कि शरीर स्वस्थ और पुष्ट हो और मन चिन्ताओं व आशंकाओं से मुक्त हो। अन्यथा अत्यन्त समृद्ध परिस्थितियें भी असंतोष का एक अतिरिक्त कारण बन जाती है। वह व्यक्ति जिसकी भूख मर जाती है स्वयं अच्छे–अच्छे पकवान नहीं पचा सकने के कारण तो

दु:खी होता ही है परन्तु इस कारण भी दु:खी रहता है कि दूसरे उनका आनंद उठा रहे हैं। वह व्यक्ति जो गहन शोक में डूबा हुआ है संगीत का आनंद कैसे उठा सकता है? इसके विपरीत जो व्यक्ति पारमार्थिक अनुभवों के रंग में रंगा हुआ है वह दूसरों को उत्तम भोजन का आनंद उठाते देख स्वयं भी आनंद से भर जाता है। वह ऐसा इस कारण कर सकता है कि उसकी दृष्टि में दूसरे लोग उससे विषम नहीं होते। उन्हें वह अपने ही समान समझता है क्योंकि वे सभी ईश्वर के माध्यम से उससे सम्बन्धित होते हैं। निस्संदेह द्रुतगति से विकसित होने वाला विज्ञान भी एक अर्थ में एकता निर्माण करने वाले तत्त्व का काम करता है और उसके कारण विभिन्न राष्ट्रों के लोग अपनी नानाविध विभिन्नताओं के उपरान्त भी एक दूसरे के अधिकाधिक निकट आ रहे हैं और यह अनुभव करने को बाध्य हो रहे हैं कि उनको सहअस्तित्त्व का पाठ पढना ही पड़ेगा। परन्तु उनमें भी अध्यात्म की ओर झुकाव रखने वाला व्यक्ति वही होगा जिसके लिए यह कहा जा सके कि उसके मन में मानव जाति के लिए प्रेम का मूल कारण उसके द्वारा अनुभूत उनमें दैवी उपस्थिति ही है। विज्ञान को अनेक उपकरणों के रूप में अपार धनराशि लाने में सफलता प्राप्त हुई है और वे, जैसा मनुष्य चाहते हैं, अपने साथ शान्ति और समृद्धि का युग ला सकते हैं, परन्तु साथ ही वे प्रलय व सर्वनाश का कारण भी बन सकते हैं। अतः पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य स्थापित करने के रहस्यों को भेदने की अन्तर्दृष्टि जिन्हें प्राप्त है ऐसे धार्मिक व्यक्तियों का ही यह काम होगा कि वे बतावें कि विज्ञान से उपलब्ध उपकरणों का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए। हमें विज्ञान के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, परन्तु सांसारिक प्रलोभनों, दु:खों और विपत्तियों की इस माया नदी के उस पार शान्तियुक्त ईश्वरीय आश्रय स्थान तक ले जाने के लिए विश्वास एक संत पर ही करना चाहिए।

कुछ अन्य बातों में भी विज्ञान और धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं। विज्ञान निरीक्षण और प्रयोग की विधियों को ऐसे तथ्यों और घटनाओं के लिए काम में लाता है जो प्रयोगकर्त्ता से (वैज्ञानिक) भिन्न होते हैं। यहां तक कि केवल मात्र धार्मिक स्थितियों का अध्ययन करने वाले धर्म–मनोविज्ञान के लिए भी यह नहीं कहा जा सकता कि धार्मिक चेतना के विकास या वृद्धि की प्रक्रिया में जो कुछ चेतना में घटित होता है वह उसकी एक सीधी व सच्ची प्रतिलिपि है। वह तो उसका अप्रत्यक्ष रूप से दिया गया सामान्य व दुर्बोध या गूढ विवरण मात्र है। 'धर्म–मनोविज्ञान' पर पुस्तक लिखकर या उसको पढकर कोई भी पारमार्थिक अनुभवों को प्राप्त नहीं कर सकता। पढने का काम तो एक पूर्णतया नास्तिक व्यक्ति भी कर सकता है और फिर भी वह नास्तिक का नास्तिक ही रह जाता है। संक्षेप में, विज्ञान एक दर्पण मात्र है जो सत्य को यथासंभव प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न करता है परन्तु धार्मिक चेतना का तब तक कोई अर्थ ही नहीं हो सकता जब तक कि शनैः शनैः व अधिकाधिक सत्य का रूप ही नहीं बन जावे। यहां प्रयोगकर्त्ता और वह वस्तु जिस पर प्रयोग किया जाता है एक ही बन जाती है। अथवा दूसरे शब्दों में, जैसा कि संत ज्ञानेश्वर कहते हैं,

यात्री और उसके चलने का यात्रा–पथ दोनों ही जिस गन्तव्य स्थान की ओर जा रहे हैं वह गन्तव्य स्थान वे स्वयं बन जाते हैं।

इसके अतिरिक्त विज्ञान की वस्तुएं परिवर्त्तनशील हैं तथा स्थान और समय द्वारा नियन्त्रित है। साक्षात्कारी अनुभव की वस्तु समय व स्थान के प्रतिबन्धों से सीमित नहीं है, और परिवर्तित होती हुई दिखाई देने पर भी अनन्त काल तक वैसी ही बनी रहती है। धार्मिक चेतना का सत्य न तो दूषित किया जा सकता है और न भंग ही। उसमें न 'अब' होता है और न 'तब'; और वह एक ही समय में यहां, वहां, और सभी कहीं उपस्थित रहता है। न दूरदर्शी और न ही सूक्ष्मदर्शी यंत्र इसे भिन्न लम्बाई, चौड़ाई या ऊंचाई प्रदान कर सकता है। जैसा कि हमें आगे इस विषय का विस्तृत विवेचन करते समय बताना है कि यह ऐन्द्रिय वस्तुओं से प्रत्येक प्रकार से भिन्न है। अतः हम एक बार फिर इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विज्ञान चाहे शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व उपभोग करने योग्य लोगों को सभी प्रकार का आराम, सुख–सुविधा और भौतिक समृद्धि प्रदान कर दे, परन्तु फिर भी न तो उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी और न ही उन्हें जीवन में ईश्वर एक आवश्यक सहयोगी के रूप में प्रतीत होगा।

जहां तक कला का प्रश्न है उसका धर्म से अधिक निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। दोनों ही विश्लेषणात्मक और वस्तुनिष्ठ कम और संश्लेषणात्मक और व्यक्तिनिष्ठ अधिक प्रतीत होते हैं। प्रकृति के तथ्य और घटनाओं का अर्थ व प्रासंगिकता वहां तक ही होगी जहां तक कि उनका मनुष्य की कल्पनाओं और भावनाओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता हो। सामान्य नियमों को छोड़कर कला व धर्म दोनों एक व्यक्ति के अनुभवों की अनूठी विशिष्टताओं में रूचि रखते हैं जो मनुष्यों को अधिक मानवीय, सहानुभूतिपूर्ण और गौरव–मंडित बनाते हैं तथा एक सूत्र में आबद्ध करते हैं। जहां वैज्ञानिक सिद्धान्त और परिकल्पनाएं कई बार खंडित कर दी जाती हैं अथवा उनसे अधिक सत्यार्थ के सिद्धान्त और परिकल्पना की खोज हो जाती है, वहीं कला और धर्म में स्थायित्व रहता है यद्यपि कभी कभी अकर्मण्यता अथवा विरोध से दोनों ही एक प्रकार से आच्छादित किये जा सकते हैं। अपनी मौलिक व्यक्तिनिष्ठता से वे एक ऐसी वस्तुनिष्ठता का निर्माण करते हैं जो वैध व स्थायी बनकर भूत व वर्त्तमान से भी परे जाकर भविष्य के लिए आदर्श बन जाती है। व्यक्तिगत अनुभवों और सार्वजनीन अनुभवों के बीच धर्म और कला दोनों ही एक प्रकार का पुल सा बन जाते हैं और यह पुल जितना अधिक चौड़ा होता जायेगा उतने ही अधिक वे मूल्य जो उन्हें स्थायत्त्व प्रदान करते है सर्वजनीन होते जायेंगे।

विशेषकर कला कभी भी पुरानी नहीं होगी चाहे वह किसी समय विशेष के प्रचलन के अनुरूप न रहे। फैशन जा सकती है परन्तु फिर लौटकर आने के लिए ही। कला की रचनात्मकता न केवल कल्पना में बल्कि पुनकल्पादन में भी निहित है, और फिर भी साक्षात्कारी धर्म की तरह यथार्थवादी कला का सम्बन्ध विचारधारणा से इतना नहीं होता

जितना प्रत्यक्षीकरण से। क्रॉमवेल ने इस भय से कि कहीं कलाकार उसको आदर्श रूप में अंकित कर उसका मिथ्या रूप चित्र में अंकित न कर दे, अपने कलाकार को चेतावनी देते हुए कहता है 'मैं जैसा हूं मुझे उसी रूप में चित्रित करना।' इसी प्रकार एक ईश्वर–साक्षात्कारी पुरुष भी अपने अनुभवों का शब्दों द्वारा जितना संभव हो सके उतना सुनिश्चित व यथातथ्य वर्णन करेगा। सुकरात की एक प्रस्तर मूर्ति जिसमें सुकरात को सुंदर दिखाया गया हो बुरी ही कही जायेगी, इसी प्रकार संत का ईर्ष्यालु और अहंकारी के रूप में वर्णन विरोधात्मक उक्ति ही मानी जायेगी। स्थायी व उच्च कोटि की कला के लिए और उसी प्रकार यथार्थ एवम् शाश्वत धर्म के लिए जिसकी आवश्यकता है वह है सत्य की खोज करने की धुन और उसे पकड़े रहने का उत्साह चाहे ऐसा करना अधिकांश लोगों को जो विलासी व कामुक है अभिशाप ही प्रतीत होता हो। तभी कला व धर्म यहां या वहां किसी एकाध मनुष्य तक सीमित न रहकर उन सब में पुनर्निमित होते हैं जो उनके सम्पर्क में या उनकी रचनाओं व उपलब्धियों के सम्पर्क में आयेंगे। कला में भाग लेना कोरी निष्क्रियता नहीं है, वह भाग लेने वाले को सक्रिय और स्वेच्छाप्रेरित कर्त्ता बना देती है। कलाकार और संत अपनी विशिष्टताओं के कारण कला और धर्म के प्रतीक रूप में पृथक नहीं दिखाई देते बल्कि उनके अर्थों व मूल्यों के शाश्वत प्रकाश–स्तम्भ बन जाते हैं।

यह सब होते हुए भी संत को कलाकार से भिन्न रूप धारण करना ही पड़ता है क्योंकि एक कलाकार अपनी कलाकृति का निर्माण कर चुकने के पश्चात उससे स्वतंत्र होकर अपने ढंग से अपने जीवन को व्यतीत करता है, परन्तु संत अपने पारमार्थिक अनुभवों से पृथक होकर एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता। संत का रूप वही है जो रूप उसके अनुभव का है, उसके बिना कोई संत हो ही नहीं सकता। जैसे एक बच्चा व उसकी माता कुछ समय के लिए ही एक साथ रहते हैं परन्तु सदैव के लिए कभी नहीं उसी प्रकार एक चित्रकार व उसके द्वारा निर्मित्त चित्र एक दूसरे में रहते भी हैं और नहीं भी रहते। निस्संदेह चित्र हमको चित्रकार की स्मृति कराता रहता है क्योंकि एक अर्थ में वह सदैव अपनी कृति में रहता ही है, परन्तु चित्रकार व चित्र एक नहीं है। इसी प्रकार शिल्पकार व शिल्पकृति, संगीतज्ञ और संगीत तथा नाटक का पात्र व वह भूमिका जो वह निभाता है एक नहीं है। परन्तु यह बात भक्त और भगवान के सम्बन्ध पर लागू नही होती यद्यपि देववादियों और ईश्वरवादियों के अनुसार दोनों का अर्थात् भक्त व भगवान का पृथक और विशिष्ठ अस्तित्त्व बनाये रखना आवश्यक है। यदि ईश्वर ही भक्ति का सम्पूर्ण व एक मात्र फल और आशय है तो जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, एक संत अपने जीवन के किसी भी क्षण में उससे नितान्त पृथक कैसे रह सकता है? जितनी ही अधिक भक्ति, उतनी ही अधिक ईश्वरानुभूति और तब उतनी ही अधिक ईश्वर व भक्त की एकरूपता या तादात्म्यता। जैसे एक बीज वृद्धि पाकर पौधा और एक पौधा वृक्ष बनता है उसी प्रकार एक भक्त भी विकसित होकर ईश्वरत्त्व को प्राप्त करता है। संक्षेप में, भक्तिमय जीवन अपने मुख के प्रतिबिम्ब को दर्पण

में देखने के समान नही है, वह तो अपने में से ही अपने स्वप्रकाशित मुख को जो ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अंकित करने के समान है।

अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति और कल्पना की क्षमता के कारण कला धर्म के अत्यन्त निकट आ जाती है, और जब प्रवृत्ति और क्षमता के स्थान पर अन्तः प्रज्ञा का प्रयोग कर लिया जावे तो यह कहना अत्यन्त सरल हो जाता है कि धर्म और कला दोनों एक ही हैं। हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि धर्म का कल्पना से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, इसके विपरीत कल्पना तो मिथ्यात्त्व का प्रमाण चिन्ह ही है। इसके अतिरिक्त यह भी नहीं कहा जा सकता कि पारमार्थिक वस्तु का निर्माण किया जाता है; यह तो केवल खोज अथवा जिसकी संभावना का बोध होता है उसको पहिचानना मात्र है। साक्षात्कारी धर्म की अन्तः प्रज्ञा सबमें सुषुप्तावस्था में रहती है परन्तु वह ईश्वर की कृपा से कुछ ही लोगों में जागृत हो पाती है। कला की अन्तः प्रज्ञा, जो अतिशय उर्वर कल्पना–शक्ति अथवा प्रेरणा का एक सुविधाजनक नाम मात्र है को किसी के द्वारा जागृत करना पड़ता है ऐसा नहीं जान पड़ता है। यह कलाकार में स्वाभाविक रूप से ही मिलती है और इसी कारण वस्तुनिष्ठ से अधिक व्यक्तिनिष्ठ होगी ही। धर्म की अन्तः प्रज्ञा सर्वजनीन और वस्तुनिष्ठ होती है और व्यक्तिनिष्ठ होते हुए भी सभी के लिए एक समान या एक रूप रहती है।

पारमार्थिक जीवन के अप्रमाणित सिद्धान्त (Dogmas) और दुविधायें

(अ) **आध्यात्मिक जीवन के अप्रमाणित सिद्धान्त** : एक अप्रमाणित सिद्धान्त से सामान्यतः उस विश्वास का बोध होता है जिसे तर्क की कसौटी पर बिना कसे ही अत्यन्त दृढता के साथ सत्य के रूप में प्रकट किया जाता है और जो समय बीतने के साथ ही धर्मान्धता का स्रोत बन जाता है। परन्तु सदैव ही ऐसा हो यह आवश्यक नहीं है। ऐसे अप्रमाणित सिद्धान्त कथन पंडितों (wise) के भी हो सकते हैं। उनके लिए वे वास्तविक तथ्य–कथन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं वे उनके प्रत्यक्ष अनुभवों की अभिव्यक्ति है, यद्यपि सामान्य लोगों की समझ से वे परे होते हैं। अनुभव के किसी विशिष्ट क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्ति जो बात कहता है उसको उसी क्षेत्र में अन्य विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्ति ही ठीक ठीक समझ सकता है दूसरें लोगों को तो वह प्रलाभ निरर्थक बड़–बड़ की तरह ही प्रतीत होगी। इसी प्रकार एक संत ही दूसरे संत को समझ सकता है फिर चाहे वे दोनो भाषा, काल, देश, जाति, व धर्म की दृष्टि से अर्थात् प्रत्येक प्रकार से, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न ही क्यों न हो। इसलिए पारमार्थिक जीवन का जहां तक सम्बन्ध है 'यह' अथवा 'वह' कथन अप्रमाणित सिद्धान्त कथन है और इसी कारण ध्यान देने योग्य नहीं है ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचने के पूर्व पर्याप्त धैर्य से काम लेना चाहिए। इतना ही नहीं, जो लोग इस जीवन को भली प्रकार जानते हैं उनके पास अत्यन्त नम्रता से जाना चाहिए और उनसे यह समझना चाहिए कि उस अप्रमाणित–सिद्धान्त–कथन का सत ही अर्थ क्या होता है तथा उसमें छिपा हुआ गूढार्थ क्या है? कई बार जो कुछ हमें दृष्टिगोचर होता है अथवा अन्य इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होता है उससे कई गुना अधिक महत्त्वपूर्ण और समझने योग्य तथ्य उसमें छिपा होता है। ऐसा करने से ही छिपे भेद को समझना संभव होता है और तब ही जगत के दो या दो से अधिक संतों के तुलनात्मक आकलन में सफलता प्राप्त होती है।

(१) **दीक्षा सम्बन्धी अप्रमाणित कथन** : इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम पारमार्थिक जीवन के कुछ मूलभूत अप्रमाणित कथनों के गूढार्थ प्रकट करने का प्रयत्न करेंगे। सर्वप्रथम सुयोग्य गुरू द्वारा एक शिष्य को परमार्थ में दीक्षा देने के प्रश्न को ही लेते हैं। क्या यह अत्यन्त आवश्यक है कि परमार्थ के रहस्य को जानने के लिए एक व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति के पास जाना ही चाहिए? क्या स्वयं अपनी ओर से की गई खोज और स्वयं अपने द्वारा किये गये प्रयत्नों द्वारा वह यह नहीं जान सकता कि ईश्वर क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? उत्तर में यही कहना पड़ता है कि यह असंभव ही प्रतीत होता है यद्यपि ऐसे भी कुछ संत हैं जिनके लिए ऐसा कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है जिससे यह पता चलता हो कि उनको पारमार्थिक ज्ञान किसी गुरू से प्राप्त हुआ हो। परन्तु फिर हम यह भी तो नहीं कह सकते कि उसके प्राप्त करने के लिए वे स्वयं उत्तरदायी थे। इस विषय में हम न तो पक्ष में और न विपक्ष में ही कुछ कहेंगे क्योंकि ऐसा

करने से हम किसी के भी पक्ष में कुछ ही प्रमाणित नहीं कर पायेंगे। कम से कम भारत में अधिकांशतः एक साधक का ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए गुरू को नितान्त आवश्यक समझा जाता है। यह कहना कि 'विश्व की अन्य समस्त वस्तुओं की तरह मनुष्य भी पहले से ही और आवश्यक रूप से ईश्वर से सम्बन्धित है' एक ऐसा कथन है जिसके सत्य को तात्विक दृष्टि से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु भारत में यह विश्वास रूढ हो चुका है कि ईश्वरीय राज्य की खोज में लगे एक साधक को ईश्वर के साथ संयुक्त किसी ऐसे अन्य व्यक्ति द्वारा ही किया जा सकता है जो पहले से ही ईश्वर से संयुक्त है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे उस साधक को अपने पारमार्थिक जीवन में एक नवीन तथ्य के रूप में स्वीकार करना पड़ता है; ऐसा जीवन जो अब स्थिर न होकर एक प्रक्रिया के रूप में नवीन ढंग से गतिमान हो गया है। तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से मानव की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा की गई होगी, परन्तु पारमार्थिक जीवन में दीक्षित होने के साथ तथा नैतिक और पारमार्थिक अनुशासन के अभ्यास के साथ वह शनैः शनैः यह सीखने योग्य बन जाता है कि वह केवल ईश्वर निर्मित, उसकी सृष्टि मात्र न होकर ईश्वरीय राज्य का एक न्याय संगत उत्तराधिकारी भी है।

अब यदि यह भी मान लिया जावे कि विधिवत दीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है और रूपान्तरण क्रमिक या शनैः शनैः होने के स्थान पर संत पॉल की तरह आकस्मिक रूप से अथवा विपल्वकारी होता है, तो भी उस सबका अर्थ बताने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता रहती ही है। संत पॉल ने डेमासकस के रास्ते पर जाते हुए जब 'सूर्य की दीप्ति से भी अधिक प्रकाशमान ज्योति पुंज' ठीक दुपहरी में देखा तो उन्होंने अपने सामने उपस्थित 'दिव्य दर्शन' से पूछा – 'तुम कौन हो?' और उत्तर मिला कि – 'सॉल, सॉल, मैं वही हूं जिसे तुम उत्पीडित कर रहे हो।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सॉल से पॉल में रूपान्तरित होने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की अर्थात् स्वयं ईसामसीह की मध्यस्थता की आवश्यकता पड़ी थी और यह 'दिव्य वाणी' जिससे ईसामसीह की उपस्थिति प्रकट होती है दीक्षा का कार्य करती है। यदि इस प्रकार की वाणी नहीं होती तो सॉल का रूपान्तरण पॉल में होता भी या नहीं इसमें हमें सन्देह है। अतः पारमार्थिक जीवन में प्रवेश प्राप्त करने का प्रथम और सर्व प्रमुख चरण दीक्षित होना है फिर वह चाहे स्वयं ईश्वर द्वारा हो अथवा ऐसे व्यक्ति द्वारा जिसने ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है और जिसे लोगों को 'दिव्य समुदाय' में दीक्षित करने का अधिकारी प्राप्त है। वह संत जिसने ईश्वर–दर्शन प्राप्त कर लिया है ईश्वर का सशरीर रूप है और दूसरों का उद्धार करने की अपनी शक्ति वह एक मात्र ईश्वर से प्राप्त करता है।

अतः यह स्वाभाविक ही है कि ईश्वर का वह नाम जो वह देता है ईश्वर का प्रतिनिधि तथा प्रतीक होता है तथा स्वयं ईश्वर से संत को सीधा प्राप्त होता है; वह न तो सन्त द्वारा उसकी अपनी इच्छा के अनुसार चुना जाता है और न ही वह उन असंख्यों नामों में से एक होता है जो पुस्तकों में लिखे रहते हैं और जो 'रूडोल्फ ऑटो' के शब्दों में

'चर्म–पत्र पर अंकित मृतक अक्षरों से अधिक कुछ नहीं होते।' इसका अर्थ इतना ही है कि नाम यथासंभव एक जीवित संत के मुख से ही निसृत होना चाहिए क्योंकि तब वह साधक द्वारा विश्वास और आशा के साथ ग्रहण किये जाने योग्य होता है। परन्तु यदि कोई ऐसा साधक हो जो पूर्ण आस्था के साथ इस बात पर विश्वास करता है कि जिस नाम का जप उससे पहले संतों ने किया है वह नाम स्वयं उसके लिए भी उतना ही फलदायी होगा तो हमारे मत में उसका उस नाम द्वारा जिस पर संतों ने ध्यान किया था और जिससे उनका उद्धार हुआ था दीक्षित समझा जाना उसकी भूल नहीं होगी। इतना ही नहीं यदि वह उस संत के नाम का भी जप करेगा तो भी वह उसकी भूल नहीं समझी जायेगी क्योंकि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संतों को उनकी उद्धार करने की शक्ति स्वयं ईश्वर से ही प्राप्त होती है। अतः कोई भी व्यक्ति ईसा–केन्द्रित हो सकता है या पॉल–केन्द्रित अथवा राम–केन्द्रित हो सकता है या रामदास–केन्द्रित, यद्यपि पॉल और रामदास क्रमशः ईसा व राम के महान भक्त ही थे। ईश्वर का सेवक ईश्वर के समान ही शक्ति सम्पन्न हो जाता है।

दीक्षा देने का कार्य 'दिव्य नाम' देने तक ही सीमित किये जाने की आवश्यकता नहीं। निस्संदेह उस नाम पर ध्यान करने से ईश्वर–दर्शन प्राप्त होगा, परन्तु अधिकतर इसकी प्रक्रिया पिपीलिका (चींटी) की गति के समान ही अत्यन्त मन्थर व लम्बी होती है। इसलिए गुरू अन्य विधि का प्रयोग भी कर सकता है जो नाम देने की विधि से अधिक शीघ्र फलदायी होती है और इसी कारण उसकी तुलना विहंगम (चिड़िया) की उड़ान से की जाती है जो तत्काल ही दूर पेड़ पर लगे फल तक पहुंच सकता है। उपनिषद् में बताया गया है कि किस प्रकार ऋषि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपयुक्त उदाहरणों की सहायता से चरम सत्य अथवा ब्रह्मन का स्वरूप समझाने का प्रयत्न करते हैं। सादृश्य मूलक तर्कों की सहायता से पिता ने पुत्र को ब्रह्मविद्या में दीक्षित करने का नौ बार प्रयत्न किया, परन्तु यह देखकर कि वह अपने पुत्र को संतुष्ट करने में असफल रहा है, उसने अपने पुत्र को सीधा ब्रह्मदर्शन उसी प्रकार कराया होगा जिस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान कृष्ण ने अर्जुन को विश्वरूप दर्शन उसी क्षण करवा दिया जिस क्षण उनसे ऐसी प्रार्थना की गई थी; अथवा जैसे ईसामसीह प्रकाश रूप में संत पॉल के सामने प्रकट हुए थे और वह भी तब जबकि नाम दिया जाकर उन्हें विधिवत दीक्षित नहीं किया गया था। 'तत् त्वम् असि' उपनिषद्–वचन है। यहां 'तत्' का अर्थ ब्रह्मन् है और 'त्वम्' से तात्पर्य स्वयं श्वेतकेतु से है। और तभी श्वेतकेतु तत्काल कह सका कि 'मैं ब्रह्मन् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हूं।' ये सभी उदाहरण विहंगत–गति की उड़ान के समान हैं; यह रूपान्तरण उछाल के समान है न कि एक–एक चरण चलने के समान क्रमिक।

अन्य दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि दीक्षा चार भिन्न–भिन्न प्रकार से दी जाना संभव है। वह मुंह से निकले श्रवणगोचर शब्द द्वारा, स्पर्श द्वारा, दृष्टि द्वारा या संकल्प मात्र द्वारा भी दी जा सकती है। गुरू द्वारा 'दिव्य नाम' का उच्चारण और साधक द्वारा उस नाम का श्रवण और हृदय में धारण ताकि वह जितनी बार

चाहे उतनी बार उस पर ध्यान कर सके, दीक्षा की सामान्यतः प्रचलित पद्वति है। दूसरी विधि का प्रयोग प्रख्यात संत स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने अपने उतने ही सुविख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द को ईश–दर्शन कराते समय किया। श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्य का स्पर्शमात्र किया और उससे ही 'दिव्य दर्शन' कर सकने की योग्यता व शक्ति उतनी ही शीघ्रता से एक से दूसरे में जा पहुंची जितनी शीघ्रता से श्रीकृष्ण से अर्जुन में गई थी। तीसरी विधि हमारे विचार से पांडीचेरी के संत श्री अरविंद द्वारा प्रयोग में ली जाती थी। जब सहस्त्रों भक्तगण उनके सामने से एक के बाद एक बारी बारी से उनका दर्शन करते हुए इसलिए जाते थे कि उनको पारमार्थिक जगत् में अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो सके तब वे (श्री अरविंद) अपनी अत्यन्त बेधक दिव्य दृष्टि से उनकी ओर देखकर उनके हृदय को 'खोल' देते थे। चौथी विधि है सर्व शक्तिमान (परमेश्वर) की अथवा किसी महान गुरू की इच्छा मात्र है केवल संकल्प जिससे एक टूटा–फूटा उपकरण भी अत्यन्त सुन्दर ढंग से काम कर सकता है, घोर पापी भी अन्यतम पुण्यवान सन्त बन सकता है और धर्म को प्रपीडित करने वाला उसी धर्म का सबसे बड़ा संरक्षक बन सकता है। जैसे ईसामसीह के संकल्प मात्र से संत पॉल का रूपान्तरण हो गया था।

हमें यह निश्चय करने के लिए कि इन चारों में से कौन सी विधि सर्वश्रेष्ठ है समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि ये सभी विधियें एक ही उद्देश्य को लेकर चलती हैं अर्थात् मनुष्य की उद्भिज्ज और पाराविक प्रवृत्ति का काया पलट कर उसे नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट और पारमार्थिक दृष्टि से पवित्र बनाना। प्रत्येक गुरू के हृदय में ऐसा करने की इच्छा विद्यमान रहती है ऐसा मानना पडेगा। यदि वह अपने शिष्यों को शारीरिक दृष्टि से दूर रखना चाहता है तो वह 'दृष्टि' की विधि का प्रयोग कर सकता है और, जैसा श्री अरविंद करते थे, कभी कभी अपने को देखने का उन्हें अवसर प्रदान कर उनको पारमार्थिक प्रज्ञा की वृद्धि का अवसर दे सकता है। अथवा, गुरू उसकी कुण्डलिनी अथवा आध्यात्मिक शक्ति को जो सभी लोगों में सुषुप्तावस्था में विद्यमान है, जागृत कर सकता है, वह उस शक्ति को विभिन्न चक्रों से होती हुई मस्तिष्क में स्थित चक्र तक पहुंचे तब तक ऊर्ध्वगामी बनाये रख सकता है ताकि शिष्य आनंद और शान्ति के शाश्वत स्रोत तक पहुंच कर उसमें निमग्न हो सके। यह विधि योग और भक्ति का एक अदभुत मिश्रण है और नाथ सम्प्रदाय की स्थापना के समय से, ईसा की दशवीं शताब्दी से, भारत में प्रयुक्त होती रही है। शिष्य के सिर पर वरद्–हस्त रखा जाता था और ऐसा करने के साथ ही शिष्य का सम्बन्ध दिव्य शक्ति से जुड़ जाता था। इसी विधि का एक अन्य रूप भी प्रचलित था जिसमें हाथ द्वारा, शारीरिक स्पर्श दीक्षा का आवश्यक अंग नहीं समझा जाता था। उसका स्थान 'दिव्य नाम' ने ले लिया जो मंत्र रूप में दिया जाने लगा और जो प्रायः ईश्वर का कोई नाम होता था। अथवा 'दिव्य नाम' का देना और अपना वरद–हस्त मस्तक पर रखना ये दोनों ही कार्य एक साथ किये जाने लगे। यह नाथ सम्प्रदाय आज भी जीवित है और ऐसा ही उत्कृष्ट कार्य कर रहा है जैसा पहले उनके संस्थापक श्री मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गहिनीनाथ,

निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर के समय में किया था। इसके बाद रामानंद, कबीर, दादू व अन्य अनेक संतों ने उत्तर में तथा काडसिद्ध, निंबरगी महाराज, भाऊ साहेब महाराज, अम्बूराव महाराज और प्रा0 रा. द. रानडे साहेब ने दक्षिण में पिछले तीन सौ वर्षों में अपार पारमार्थिक कार्य किया है। समग्र रूप से इतने लम्बे विवेचन के द्वारा जो बात हम प्रमाणित करना चाहते हैं वह यह है कि पारमार्थिक दीक्षा का मुख्य रूप 'दिव्य नाम' प्रदान करना ही है। यह विधि धीरे–धीरे व शनैः शनैः एक साधक को ईश्वर–दर्शन करा देती है और 'दृष्टि' 'स्पर्श' व 'संकल्प' से होने वाली दीक्षा की अन्य विधियों के सभी लाभ भी इससे प्राप्त हो जाते हैं। दीक्षा के समय गुरू शिष्य को देखता ही है और वह जिस नाम का उच्चारण करता है उससे उत्पन्न ध्वनि–तरंगें शिष्य की कर्णेन्द्रियों को स्पर्श करती ही है। इसी कारण दीक्षा के क्षेत्र में 'दिव्य नाम' प्रदान करने की विधि ईश–कृपा प्रदान करने की सर्वोत्तम विधि तथा इस नाम पर किया गया ध्यान ईश्वर–प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन समझा जाता है।

संक्षेप में, दीक्षा देने के कार्य का एक ही तार्किक स्पष्टीकरण हम दे सकते हैं जो इस प्रकार है। ईश्वर का वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा ईश्वर–साक्षात्कार उसके दार्शनिक या बौद्धिक विवेचन से कई गुना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः वह प्रकाश–रूप ही होना चाहिए। और प्रकाश रूप कहना कोई रूपकात्मक आलंकारिक वर्णन नहीं है यह एक वास्तविकता है। स्वाभाविक है कि शिष्य के मन से अन्धकार दूर करने के लिए गुरू उसमें प्रकाश लावे। मोमबत्ती जो जलती नहीं है दूसरी जलती हुई मोमबत्ती से ही जलाई जाती है और यह जलती हुई मोमबत्ती भी जलने से पूर्व किसी दूसरी मोमबत्ती के द्वारा जलाई गई होगी। अन्ततोगत्वा हमें यह मानना पड़ेगा कि प्रथम मोमबत्ती शाश्वत रूप से स्वयं–प्रकाशित है। प्रकाश का यह प्रथम स्रोत स्वयं ईश्वर है। अन्य सभी जो अगणित मध्यस्थ दीपक सदृश है पहले शिष्य थे और बाद में गुरूपद को प्राप्त हुए। ये ही वे महान संत हैं जिन्होंने ईश्वरीय ज्ञान की मशाल को सदैव प्रज्वलित रखा है और ये ही वे संत हैं जो इस मशाल को एक पीढी के बाद दूसरी पीछी को सौंपते चले जाते हैं। दीक्षा देकर, ईश्वर को प्रकट कर दिखाने का यह आत्यंतिक निस्स्वार्थ कार्य सारे जगत में निरंतर केवल संतों द्वारा ही किया जाता रहा है। जिस प्रकार एक अग्नि शिखा का दूसरी अग्नि शिखा से कोई अन्तर नहीं होता उसी प्रकार एक संत का दूसरे संत से या संत का ईश्वर से अथवा एक गुरू का पूर्णता प्राप्त शिष्य से कोई मूलभूत अन्तर नहीं हो सकता। इस बात को ही महान साक्षात्कारी संत श्री शंकराचार्य के शब्दों में कहें तो 'गुरू अपने शिष्य का स्पर्श तक किये बिना अपने पास जो कुछ है वह सभी अपने शिष्य को दे देता है ताकि शिष्य गुरू के समान ही बन जाये।' दीक्षा पारस पत्थर की तरह काम करती है और लोहे को स्वर्ण में परिवर्तित कर देती है, मनुष्य ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है, ईश्वर का निम्नतम सेवक भी ईश्वरीय राज्य की कुंजी प्राप्त कर लेता है।

(२) **नाम और रूप के सम्बन्ध पर अप्रमाणित कथन**: अब हम पारमार्थिक जीवन के दो महत्त्वपूर्ण अप्रमाणित कथनों पर आते हैं, जिनमें से पहला है 'दिव्य नाम का ईश्वर के रूपों से सम्बन्ध' और दूसरा है 'नाम व रूप दोनों का ईश्वर से सम्बन्ध।' ईश–नाम–जप का फल ईश्वर के रूप–दर्शन में क्यों होता है? और, फिर उसके रूप–दर्शन के साथ साथ उसके नाम का ध्यान करना क्यों उचित है? स्पिनोजा जिस अर्थ में 'पदार्थ' और 'गुण' शब्दों का प्रयोग करता है उस अर्थ में ईश्वर को क्या इन दो लक्षणों से ही पहिचाना जाता है? अथवा क्या वह अन्य लक्षणों से भी जाना जा सकता है और फिर भी सदैव उनसे परे ही बना रहता है? स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर अथवा 'पदार्थ' के असंख्यों 'गुण' हैं? परन्तु मनुष्य की योग्यता सीमित होने के कारण वह उसको इन दो गुणों से अर्थात् 'विचार' व 'विस्तार' से ही जान सकता है। स्पिनोजा के लिए बुद्धि और जड़ वस्तु क्रमशः 'विचार' और 'विस्तार' से बने हुए हैं और ये दोनों एक ही 'पदार्थ' अर्थात ईश्वर के दो गुण हैं। उत्तरी भारत के महान संत तुलसीदास के मत में ईश्वर अपने भक्तों के सामने नाम और रूप इन दो माध्यमों से प्रकट होता है। स्पिनोज़ाकी ही तरह तुलसीदास का भी तात्पर्य यह है कि ईश्वर अपने गुणों से आत्यन्तिक परे है। परन्तु जहां स्पिनोजा में उसके 'पदार्थ' के एक होते हुए भी 'बुद्धि' और 'जड़ वस्तु' का अथवा 'विचार' व 'विस्तार' का द्वैत प्रच्छन्न रूप में विद्यमान है, वहीं तुलसीदास में अथवा भारत के किसी भी अन्य महान संत में, नाम और रूप में कोई अन्तर नहीं हो सकता क्योंकि जो व्यक्ति नाम पर ध्यान करता है वह ईश्वर के अनेक रूपों का दर्शन भी करता है और जो रूप–दर्शन करता है उसे अनेक दिव्य नामों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। इसीलिए दीक्षा या तो 'नाम' से या फिर 'रूप–दर्शन' से दी जाती है और यही कारण है कि एक व्यक्ति 'विचार' (नाम) से 'विस्तार' (रूप) तक सरलता से जा सकता है। 'नाम' एक प्रत्यय अथवा विचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इसी प्रकार 'दिव्य दर्शन' 'विस्तृत रूप' के अतिरिक और कुछ नहीं। संयोगवश इससे यह भी प्रकट हो जाता है कि पारमार्थक दृष्टिकोण से द्वैत है ही नहीं। ईश्वर का कोई एक रूप अथवा उसका कोई एक नाम समय पर पाकर अपने में से असंख्यों रूपों और नामों की जिन्हें जगत् के महान संतों ने अब तक देखा है या सुना है उत्पत्ति कर सकने में समर्थ है।

फिर भी भारतीय संतों के अनुसार ईश्वराभिव्यक्ति नामों और रूपों तक ही सीमित नहीं है। वह अपने आपको संगीत की असंख्यों स्वर–लहिरयों के रूप में, बादलों की गर्जना के रूप में, सिंह की दहाड़ के रूप में, सुंदर तरंगों के रूप में, छलकती हुई शक्ति के रूप में, अथवा समुद्र की सी गहन गंभीर शान्ति या एक आनंदपूर्ण उपस्थिति के रूप में प्रकट कर सकता है।

यह सब उन लोगों को अप्रमाणित कथन अथवा कपोल–कल्पना ही लगेगा जिनके लिए पारमार्थिक जीवन निषिद्ध वस्तु सी है अथवा जो अत्यधिक स्व–केन्द्रित हैं और सांसारिक सुखोपभोग में इतने डूबे हुए हैं कि अन्य किसी बात का विचार ही नहीं कर

सकते, अथवा जिनको इस बात का ही अभिमान है कि वे बुद्धि व तर्क को ही प्रधान मानते हैं और ऐसी दशा में वे तब तक विनम्र नहीं बन सकते जब तक कि वे अशक्त व दयनीय नहीं बन जाते और दुर्भाग्य के थपेड़ों को सहन करने मे ंअपने आपको असमर्थ नहीं पाते। यदि किसी मनुष्य की बुद्धि उसे अपने जीवन के किसी भी क्षण में यह नहीं सिखाती कि वह अपनी बौद्धिकता के घमंड को कुछ समय के लिए दूर रख दे और नम्रता व विश्वास के साथ उन लोगों के चरणों में बैठ सके जिन्होंने ईश्वरीय राज्य के अतिमानसिक, अति–बौद्धिक व अतिन्द्रीय कोष को देखा है और अपना बना लिया है तो उनके लिए ईश्वरीय राज्य के द्वार सदा के लिए बंद ही रहेंगे। अतएव ऐसे व्यक्ति को पारमार्थिक जीवन के तथाकथित तथ्यों के सत्यासत्य की जाँच करने के लिए जो चाहे प्रारम्भिक ही क्यों न हो, कम से कम प्रयोग करने की इच्छा से ही अपने आपको एक समर्थ गुरू के हाथों में सौंप, उससे दीक्षा लेनी चाहिए और उसके द्वारा बताये गए नैतिक और पारमार्थिक मार्ग पर चलना चाहिए। तभी उसे ये अप्रमाणित कथन एक नवीन और प्रीतिकर जीवन के सरल तथ्यों के रूप में प्रतीत होंगे। यदि ऐसा कोई व्यक्ति है जिसको मिठास का अनुभव नहीं, तो उसे यह बताने के लिए कि शक्कर मीठी होती है केवल दो ही मार्ग हैं। एक तो यह कि उसे चखने के लिए शहद दी जावे और उसे कहा जावे कि शक्कर भी ऐसे ही स्वाद की होती है। तर्क और अनुमान, दृष्टान्त और कल्पना से निर्मित्त यह वह सैद्धान्तिक विधि है जो सामान्यतः ज्ञात से अज्ञात की ओर जाने के लिए प्रयोग में ली जाती है। प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में और साथ ही विज्ञान में भी यह अत्यन्त सुंदर रूप से उपयोगी प्रमाणित हुई है। विज्ञान में दृष्टांतों के व परिकल्पनाओं के सहारे असंख्यों खोजें की गई है। परन्तु चाहे कितना ही तर्क और चाहे कितनी ही कल्पनाएं क्यों न की जावे वे एक व्यक्ति को शहद के स्वाद के आधार पर शक्कर के स्वाद का अनुभव प्रदान नहीं कर सकते। इसके लिए तो उसे शक्कर ही चखना पड़ेगा। दो व्यक्ति चाहे कितने ही सहानुभूतिपूर्ण और एक दूसरे के प्रिय मित्र क्यों न हो, एक के शोकाकुल होने पर जो तीव्र वेदना उसको होती है वैसी ही वेदना दूसरे को कभी नहीं हो सकती। जब जीवन के सामान्य अनुभवों की यह दशा है तो जगत के समस्त विदित सुखों व आनन्दों से परे एक संत के अपने ढंग के अनूठे आनन्दातिरेक की जो अनुभूति है उसमें किसी को किस प्रकार भागीदार बनाया जा सकता है। तादात्म्य के आनन्द का अनुभव केवल विद्वान बनकर या शास्त्रों के अथवा विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के शाब्दिक ज्ञान में पारंगत होकर कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब तक एक व्यक्ति जिस मार्ग से संत गये हैं उसी मार्ग से जावे नहीं और ईश्वर को खोजने की व उसका सख्यत्व प्राप्त करने की कला सीख न ले तब तक इस प्रकार का अनुभव प्राप्त करना असंभव है।

(ब) **पारमार्थिक जीवन की दुविधायें** : पारमार्थिक जीवन के कुछ अप्रमाणित कथनों का उल्लेख कर उनका महत्त्व बता चुकने के बाद अब हम ऐसी कुछ दुविधायें अथवा विरोधी

सी दिखने वाली उक्तियें लेंगे जो पारमार्थिक यात्रा को प्रारम्भ करने वाले एक साधक के सामने आकर उसे किंकर्त्तव्य विमूढ़ बना सकती है।। निस्संदेह इस अध्ययन में जहां जहां ये पहेलियें हमारे सामने आयेंगी वहां वहां उनका हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न हम करेंगे परन्तु यहां पर भी उनका उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा और फिर उनकी पुनरावृत्ति से कोई हानि भी नहीं होने वाली है। उल्टे इससे प्रारम्भ में ही वे बाधाएं और सन्देह दूर हो जायेंगे जो बाद में आगे चलकर उस साधक को आक्रान्त कर सकते हैं और उसकी प्रगति में बाधक बन सकते हैं। यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ये दुविधायें और संदेह अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं। जो कुछ भी हाथ लग जाय उसका छिछला और आवश्यकता से अधिक पठन, शीघ्रता से निकाले गये निष्कर्ष, अन्तर्दृष्टि का जिनमें अभाव है ऐसे लोगों पर अधीरतापूर्वक विश्वास, पूर्वाग्रह ग्रसित अपने कुछ मत, प्रसंग से अनिभिज्ञता, भाषायी रूढियें, तुलनात्मक रूप से कम विश्वसनीयता अथवा योग्यता के विभिन्न अर्थ प्रस्तुत करने वाले प्रतिपक्षियों के कथन आदि कुछ ऐसे प्रमुख कारण हैं जो पारमार्थिक जीवन की इन पहेलियों को अथवा विरोधमूलक उक्तियों को उत्पन्न करते हैं। उनका हल या तो एक ऐसे पूर्ण सत्य में निहित है जिसमें वे विरोधी उक्तियें एक दूसरे की पूरक बन जाती है अथवा उस सत्य में निहित है जो उनके परे होता है।

(१) सर्व प्रथम हम ईश्वर और गुरू के सम्बन्धों की पहेली पर विचार करते हैं। हमने पिछले विभाग में कहा है कि गुरू, ईश्वर और शिष्य के बीच मध्यस्थ होता है और साथ ही ईश्वर का सदेह रूप भी। इस तथ्य की भाषाभिव्यक्ति पर सन्तगण भी एकमत नहीं हैं। तुकाराम सन्तों से अनुनय–विनय करते हैं कि वे उनकी ओर से ईश्वर को प्रार्थना करे ताकि ईश्वर तुकाराम पर कृपा दृष्टि करें क्योंकि तुकाराम का विश्वास है कि जब तक सन्त मध्यस्थ नहीं बनेंगे तब तक उनके पतित और पापी होने के कारण ईश्वर उनकी उपेक्षा ही करता रहेगा। कबीर गुरू के चरणों में गिरना अधिक उचित समझते हैं यद्यपि गुरू और गोबिन्द दोनों उनके सामने खड़े हैं क्योंकि वे जानते हैं कि यह गुरू–कृपा का ही फल है कि वे ईश्वर के दर्शन प्राप्त कर सके। कबीर अपने गुरू को ईश्वर से भी बड़ा मानते हैं यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि उनके व ईश्वर के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए गुरू मध्यस्थ थे। स्वामी रामदास गुरू को ईश्वर तुल्य कहते हैं, यद्यपि वे अन्यान्य छोटे देवी–देवताओं को गुरू से नीचे ही मानते हैं क्योंकि वे कुछ ऋचाओं के अथवा मंत्रों के जाप से देखे और प्रसन्न किये जा सकते हैं। उनका कहना है कि गुरू के लिए प्रेम और विश्वास उतना ही दृढ होना चाहिए जितना ईश्वर के लिए। इन सभी मतों के विरूद्ध योग–सूत्र के लेखक पतंजली का मत है कि अन्य सभी गुरूओं के भी गुरू स्वयं ईश्वर है। (१०२६)

ये चारों मत एक दूसरे के विरोधी प्रतीत हो सकते हैं परन्तु वास्तव में हैं नहीं क्योंकि इनमें से प्रत्येक में सत्य का एक अंश है और साथ ही वह दृष्टिकोण है जिससे

ईश्वर और गुरु के सम्बन्ध को देखा जा सकता है। तुकाराम महाराज का कथन सही है क्योंकि वे जानते हैं कि ईश्वर सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में उन्हें अपने दोषों और पापों के लिए दण्ड दिये बिना नहीं छोडेंगे। कबीर का कहना भी सही है क्योंकि वे जानते हैं कि गुरू की कृपा के बिना किसी को भी ईश्वर के रूप का दर्शन नहीं हो सकता। ऐसे ही स्वामी रामदास का कथन भी सत्य है क्योंकि वे जानते हैं कि गुरू गुरू इसीलिए हैं कि स्वयं उन्होंने ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त किया है और दूसरों को साक्षात्कार करा सकने की सामर्थ्य उनसे प्राप्त की है। उनके लिए ईश्वर और गुरू में कोई अन्तर नहीं केवल इतना भर कि गुरू के देह है और ईश्वर के नहीं। वास्तव में इनमें से कोई भी संत अथवा जगत के अन्य महान संतों में से भी कोई अन्य ऐसा नहीं है जो कोई ऐसी नयी बात कहता हो जो अन्य सन्तों को पहले से ही विदित नहीं हो अथवा जो उनके द्वारा सत्य रूप में स्वीकृत न हुई हो। उन्होंने पूर्ण सत्य के किसी एक अथवा दूसरे पक्ष पर अधिक बल मात्र दिया है और तब स्वाभाविक ही है कि उनमें से किसी को भी महाऋषि पतंजली के इस कथन को कि अन्ततोगत्वा ईश्वर ही सबका गुरू है सत्य मानने में हिचकिचाहट नहीं होगी। एक संत को गुरूपद जो प्राप्त होता है वह ईश्वर के रूप का अन्दर और बाहर अर्थात् अन्तर में व अपने सम्मुख निरन्तर दर्शन होने के कारण ही होता है न कि उसकी देह के कारण अथवा जो कुछ उसके पास है उसके कारण।

हम समझते हैं कि इससे सामान्य लोगों की यह मूर्खतापूर्ण धारणा कि गुरु देहधारी मनुष्य और एक व्यक्ति विशेष ही होता है दूर हो जायेगी और उसके साथ ही उतनी ही मूर्खतापूर्ण वह रूढि भी दूर हो जायेगी जिसमें गुरु की देह को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। निस्सन्देह गुरु को प्रसन्न करने के लिए गुरु की देह को जो ईश्वर का मन्दिर ही है श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखने में व उसकी सेवा करने में बहुत कुछ सार है, परन्तु हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि देह अथवा ईश–मन्दिर स्वयं ईश्वर से भिन्न है। हम यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर की मस्ती में मस्त संत की भौतिक देह भी दिव्य हो जाती है और जब तक वह जीवित रहता है वैसी ही बनी रहती है। परन्तु जब देह का मरण होता है तो उसके साथ गुरु नहीं मरता। क्योंकि देह रहते जिस कारण से उसे गुरुपद प्राप्त हुआ वह ईश्वर का स्वरूप–दर्शन उसके देहपात के पश्चात भी शाश्वत रूप से अमर रहता है। और यदि जो दिव्य स्वरूप वह सदैव अपने अन्दर, अपने बाहर और सर्वत्र देखता था वह स्वयं उसकी देह की आकृति का था तो उसके देहपात के पश्चात जो शाश्वत रूप से रह जायेगा वह भी उसकी देह की आकृति का वही दिव्य रूप होगा। संत के जिस रूप को गुरुपद या ईश–पद प्राप्त होता है वह यही दिव्य आत्म–रूप है जो उसकी देह की आकृति का होता है और जो उसके जीवन काल में व देहपात के बाद भी वैसा ही रहता है। जब तक संत जीवित रहता है तब तक ईश्वर उसके देह का रूप धारण कर उसके सामने इस प्रकार प्रकट होता रहता है मानो वह संत की दर्पण में पड़ती हुई प्रतिच्छाया हो। संभवतया यह ईश्वर द्वारा दिया गया ईश्वर के प्रति संत के प्रेम का पुरस्कार है। परन्तु

ईश्वर की कृपा अपार है और स्वामी रामदास के शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि संत के प्रति उसकी कृतज्ञता भी असीम है क्योंकि संत के देह छोड़कर चले जाने के बाद भी वह उन सबके सम्मुख जो उस संत के प्रति गहरी भक्ति का भाव रखते हैं उसी के रूप में प्रकट होता रहता है। अतः अन्ततोगत्वा यह कहना होगा कि जब संत ईश्वर में ही मस्त हो जाता है तब स्वयं ईश्वर उसकी देह को दिव्य बनाकर उसका रूप आप स्वयं धारण कर लेता है और फिर जबतक वह संत जीवित है तब तक उसके सम्मुख उसी रूप में प्रकट रहता है और संत के देहपात के पश्चात भी उसी देहाकृति में बार बार प्रकट होता रहता है। लोग भले ही यह सोचते रहें कि संत पुनर्जीवित हो गया है परन्तु वास्तव में यह सब खेल स्वयं ईश्वर करता है। संत अपनी देह रूपी कब्र में से तो अपनी जीवितावस्था में ही पुनर्जीवित हो चुका था क्योंकि उसके देह का सिर से पैर तक प्रत्येक रन्ध्र स्वप्रकाशित दिव्य उपस्थिति से परिपूर्ण हो चुका था। अतः समस्त गुरूओं का गुरू जो है वह स्वयं ईश्वर ही है।

ईश्वर से इस प्रकार का घनिष्ट तादात्म्य स्थापित हो जाने के उपरान्त भी संत ईश्वर के साथ सदैव एक स्वामी भक्त सेवक की सी आत्यन्तिक विनम्रता का और भक्तिपूर्ण व्यवहार करता है। दूसरी ओर ईश्वर उससे प्रसन्न हो जाने के कारण कृपा की, करुणा की और पारमार्थिक अनुभवों के सम्पूर्ण कोष की कुंजी उसे दे देता है। इसी कारण जो ईश्वर को जानना चाहता है और उससे साक्षात्कार प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है उसे पहले एक जीवित संत की कृपा संपादित करनी चाहिए। संत के पास ईश्वर की शक्ति रहती है परन्तु उसका हृदय मनुष्य का ही होता है अतः जब अत्यन्त दुःखी, पापी अथवा अज्ञानी लोग उसके पास अपने उद्धार के लिए आते हैं तो वह न्याय की तुला पर उन्हें नहीं तोलता बल्कि सहानुभूति और दया का हाथ बढाता है और ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उन सबका अपने कृपा–स्पर्शन द्वारा उद्धार करने की कृपा करें। और जब दैवी स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तब वह उनपर अनुग्रह कर उनको पारमार्थिक 'उपदेश' देकर ईश्वर के मार्ग पर लगा देता है। गुरु के रूप में मानवता का उद्धार करने का यह सर्वोच्च कार्य जगत में सभी जगह संतों द्वारा निरंतर किया जाता रहा है और इसीलिए उन्हें ईश्वर से भी बड़ा कहा जाता है। परन्तु अन्त में, यह प्रशस्ति भी संत द्वारा ईश्वर के ही चरणों में समर्पित कर दी जाती है क्योंकि वह ईश्वर ही सर्वकाल उसमें निवास करता है।

(२) हमने एक बड़ी दुविधा का हल निकाल लिया है जिससे हमें दो अन्य दुविधाओं को बिना अधिक कठिनाई के हल करने में सहायता मिलेगी। 'मोक्ष मृत्यु के इस पार ही प्राप्त हो जाता है अथवा उस पार' यह प्रमाणित करने के लिए उभय पक्ष द्वारा बहुत अधिक शक्ति व विद्वता खर्च की गई है। जो विदेह मुक्ति का अर्थ 'देह विरहित मुक्ति' अर्थात् मृत्यु के पश्चात मुक्ति लगाते हैं और एकमात्र उसे ही मुक्ति मानते हैं उनकी मान्यता है कि उसके पश्चात अर्थात विदेह मुक्ति के पश्चात ही पुनर्जन्म नहीं होगा। वे तर्क प्रस्तुत करते

है कि भौतिक देह का होना ही मुक्ति प्राप्ति की एक बड़ी बाधा है क्योंकि यह देह पूर्वजन्मों के कर्मों का फल है और जब तक पूर्व कर्मो का यह अन्तिम अवशेष समाप्त नहीं हो जाता अर्थात यह देह गिर नहीं जाती तब तक सच्ची मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरी ओर वे लोग जो 'विदेह' का अर्थ 'वि–देह' अर्थात 'देहभान से रहित' स्थिति लगाते हैं वे कहते हैं कि मुक्ति एक व्यक्ति की जीवितावस्था में भी प्राप्त हो सकती है यदि वह अपने जीवन में कभी, एक क्षण के लिए भी, अपने आपको देह रूप नहीं समझे और इसके विपरीत, उसे निरन्तर दैवी उपस्थिति का ही भान रहे। उनके अनुसार इन्द्रियां, इन्द्रियों के विषय, मन, बुद्धि और अहंकार इत्यादि का निषेध स्वाभाविक रूप से इसमें आ जाता है। इस प्रकार विदेह मुक्ति, जीवन–मुक्ति अर्थात् 'जीवित रहते हुए ही मुक्ति' का ही दूसरा नाम बन जाती है।

अब क्योंकि दोनों ही दृष्टिकोणों में सत्य का अंश है, यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि इन दोनों में से किसे पूर्ण रूप से सत्य माना जावे। यदि 'मृत्यु के पश्चात ही मुक्ति संभव है' ऐसा दृष्टिकोण सही है, तो आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य जो मानव–जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य समझा जाता है, अपना बहुत कुछ महत्त्व खो देता है और मनुष्य को मुक्त होने के लिए अत्यन्त झुंझलाहट भरे धैर्य के साथ मरण की घड़ी की प्रतीक्षा करनी पडती है। एक मात्र इस तर्क–युक्ति पर, कि कर्म और कर्म फल ज्ञान के विरोधी हैं और इसी कारण वे मुक्ति के बाधक तत्त्व हैं, विश्वास करना निरापद नहीं है क्योंकि इस विषय में अर्थात् मृत्यु के पश्चात जीव की क्या दशा होती है उसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने की कोई संभावना नहीं रहती। इसके अतिरिक्त प्रश्न उठता है कि क्या एक व्यक्ति ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी कुछ कार्य नहीं करता रहेगा? और यदि हां तो, क्या वे कार्य उसके बन्धन के कारण नहीं बनेंगे? यदि यह कहा जाये कि इस सर्वोच्च ज्ञानाग्नि द्वारा भविष्य के कर्मों के फल निष्फल हो जायेंगे तो यह विचार तर्क–संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि फिर इसी प्रकार भूतकालिक कर्म निष्फल क्यों नहीं हो जाते? और तब देह को एक बाधा के रूप में क्यों माना जावे? भगवद्गीता कहती है (४.३६) कि 'ज्ञानाग्नि में संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण सभी कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं।' संत तुकाराम भी हमें ठीक यही बात कहते हैं। और फिर यह भी कौन कह सकता है कि एक संत भी मृत्यु की घड़ी तक कभी भी आलसी और पापाचारी बनकर ज्ञान की इस उच्च पीठिका से पतित नहीं हो जायेगा?

दूसरी और मुक्ति से तात्पर्य यदि जीवन मुक्ति हो तो उसमें न केवल विदेह मुक्ति अर्थात् देह, इन्द्रियें, मन, बुद्धि और अहंकार की चेतना से परे जाने की स्थिति का ही अन्तर्भाव हो जायेगा बल्कि किसी एक (संत) के ठोस, प्रत्यक्ष अनुभव का प्रमाण भी आधार रूप में उपलब्ध हो सकेगा। ईश–ध्यान की तल्लीनता में बिताया गया प्रत्येक क्षण अथवा ईश्वर के रूप–दर्शन की तन्मयता की प्रत्येक घड़ी अथवा ध्यान व रूप–दर्शन दोनों में ही बिताया गया प्रत्येक पल मुक्ति का ही एक क्षण है; सन्तोष, आल्हाद और शान्ति का एक

क्षण है। अहमन्यतापूर्ण इच्छाओं और चिन्ताओं, आशाओं और निराशाओं, सुखों और दुःखों से निर्मित जीवात्मा अपनी क्षुद्र वैयक्तिकता से इस बहुमूल्य अल्प समय के लिए छुटकारा पा जाता है। इन सभी से तथा जीवन की अन्य परिस्थितियों और परिवेशों से अदूषित वह मुक्तात्मा संतों की संगति में रहकर (इस संसार में) जल में कमलवत बन जाती है तथा ईश्वर के नाना रूपों के दर्शन का आनंद प्राप्त करती है। वह न तो देह के गिरने की ही प्रतीक्षा करता है और न ही दीर्घ जीवन की कामना ही करता है। वह जब जीवित होता है तब भी यह जानता है कि उसकी देह सर्प की केंचुली के समान है जिसे एक न एक दिन छोड़ना ही है; और यद्यपि ध्यान व अन्य पारमार्थिक कार्यों के लिए वह अपनी देह का पूरा पूरा उपयोग करता है तथापि वह न तो उसको अत्यधिक दुलार–प्यार ही करता है और न ही यह समझता है कि वह उसकी आत्मा पर एक निरर्थक बोझ है। केवल ऐसे ही व्यक्ति के लिए यह कहा जा सकता है कि उसके देह होते हुए भी 'देह' नहीं है। केवल वही जीवन मुक्त है और साथ ही विदेह मुक्त भी।

(३) 'ईश्वर सगुण है या निर्गुण' इस समस्या के विषय में हमने इससे पूर्व अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा ही है कि वह सगुण है क्योंकि ईश्वर अपनी कृपालुता के कारण नाना संतों के रूप धारण करके उनके सामने प्रकट होता है। इतना ही नहीं उसमें न्याय, दया और प्रेम आदि गुण विद्यमान है। यदि हम दैवी उपस्थिति से उत्पन्न अन्य पारमार्थिक अनुभवों को यथा प्रकाश, नाद, विभिन्न रंग, सुगन्धि, सौन्दर्य, महिमामंडित वैभव के साथ तारों, चन्द्रमाओं, सूर्यों तथा अन्य जड़ व चेतन पदार्थों के रूप–दर्शन के अनुभवों को देखें तो हमें कहना पड़ेगा कि यदि ईश्वर सगुण नहीं है तो फिर वह कुछ है ही नहीं। अत्यन्त दुःख की बात है कि इन स्थायी साक्षात्कारी अनुभवों से किंचित मात्र भी परिचित नहीं होने के कारण और अपनी बौद्धिकता के घमंड में चूर होने के कारण ही हम कहते है कि ये सभी ऐन्द्रिय जगत की क्षण भंगुर वस्तुओं की भांति ही द्रुतगति से परिवर्तित होते हुए दृश्य–भास ही हैं। ये मन्दिरों में रखी पत्थर या धातु से गढी हुई पूजा की मूर्त्तियों के समान नहीं है और इसी कारण उनको सगुण कहा जाता है। जैसा कि हम 'मूर्त्ति–पूजा से ईश्वर साक्षात्कार तक' नामक अध्याय में बतायेंगे ये ईश्वर के रूप व ईश्वर की उपस्थिति के अनुभव पार्थिव वस्तुओं से और उन पार्थिव वस्तुओं की स्मृति व कल्पना से प्रसूत मूर्त्तियों इन दोनों से ही तत्वतः भिन्न हैं। वे न तो मन के द्वारा निर्मित है और न इन्द्रियगोचर ही। वे दैवी उपस्थिति की अन्तर्वस्तु और साथ ही उसके घटक हैं तथा ईश्वर द्वारा अपने भक्त की अतीन्द्रिय दिव्य दृष्टि के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते हैं। दिव्य स्वरूपों की पार्थिव तथा मानसिक वस्तुओं से केवल एक समानता है और वह यह कि दोनो ही वैविध्यपूर्ण होते हैं। निस्संदेह वे भी परिवर्तित होते हुए से और क्षणभंगुर भासित होते हैं परन्तु वास्तव में वैसे होते नहीं हैं। वे अदृश्य तो होते हैं परन्तु बार–बार पुनः प्रकट होने के लिए ही और फिर वे आगे चलकर स्थायी रूप से दृढ हो जाते हैं। संक्षेप में, वे मायावी नहीं हैं, वे तो ईश्वर के

गतिशील व्यक्तित्व की अनेक रूपों में अभिव्यक्ति हैं जिसमें से प्रत्येक उसका एक सगुण रूप है और फिर भी अनश्वर और ईश्वर का शाश्वत अवतार ही है।

सगुण होते हुए भी इन दैवी स्वरूपों को निर्गुण भी कहा जा सकता है, परन्तु निर्गुण इस अर्थ में नहीं कि उनमें कोई गुण होते ही नहीं बल्कि इस अर्थ में कि जिस रूप में वे दृष्टिगोचर होते हैं उससे या किसी विशिष्ट समय के किसी विशिष्ट गुण से वे सीमित नहीं होते। इसमें अपने आपको विभिन्न परिणामों में या विभिन्न आकारों में परिवर्तित होने की अथवा जिन गुणों में एक बार प्रकट हुआ है उनसे सर्वथा विपरीत गुणों में परिवर्तित होने की शक्ति है। इसी कारण जिस रूप में वह दिखाई देता है उस क्षण में उसका सकारात्मक रूप से वर्णन कर कहा जा सकता है कि 'उसका रूप ऐसा है अथवा वैसा है', परन्तु साथ ही उसका प्रसिद्ध वेदान्त–सूत्र 'नेति नेति' कह कर नकारात्मक ढंग से भी वर्णन किया जा सकता है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि वह सदैव उसी एक आकार या गुण से सम्पन्न ही दृष्टिगोचर हो। यदि निर्गुण का यही अर्थ हो कि निरपेक्ष सत्ता अथवा ईश्वर किसी आकार या गुण को धारण कर ही नहीं सकता तो हम उसके अस्तित्व का ढंग नही जानते और न ही यह कहने का कोई कारण पाते हैं कि उसका अस्तित्व है भी। हमारे मत में सगुण के आधार पर किसी निराकार अथवा निर्गुण का अस्तित्व मानना और फिर यह कहना कि सगुण उससे उत्पन्न हुआ है सर्वथा अनावश्यक है। वही एक सत्ता सगुण या निर्गुण अथवा ईश्वर या निरूपाधि (ब्रह्म) दोनों ही हो सकती है। ठीक यही विचार श्री शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों में अनेक बार यह कह कर अभिव्यक्त किया है कि निर्गुण ब्रह्म अपने भक्तों के लिए सगुण रूप धारण करते हैं। एकनाथ, तुकाराम, और तुलसीदास जैसे सन्तों ने निर्भ्रान्त रूप से ईश्वर के इन दोनों रूपों की एकता का प्रतिपादन कर ठीक यही बात कही है। स्वामी रामदास यह कहने के लिए बधाई के पात्र हैं कि निर्गुण और कुछ नहीं अनेक गुणों का समुच्चय ही है (निर्गुण का अर्थ बहुगुण होता है – बहु–अनेक) और निर्गुण के स्वरूप को समझने के लिए सगुण का अनुभव आवश्यक है। किसी अन्य प्रसंग में वे कहते हैं कि उसी स्थान पर जहां पहले भक्त कुछ भी नहीं देखता था, बाद में दैवी वैभव की सम्पूर्णता का अवलोकन करता है। इसका अर्थ यही हुआ कि जो ईश्वर पहले निर्गुण था और इसी कारण दृष्टि से ओझल था भक्त के लिए तत्काल ही एक मनोहर रूप धारण कर दृष्टिगोचर हो जाता है। इसे ही दूसरे ढंग से कहें तो कह सकते हैं कि जो ईश्वर पहले अव्यक्त था वह बाद में व्यक्त हो जाता है अथवा जो ईश्वर पहले रूप–रहित (अरूप), गुण रहित (अगुण) और नाम–रहित (अनामी) था वही अब रूप, गुण और नाम धारण कर लेता है। हमारे विचार में उपनिषद्–वाक्य 'पहले कुछ नहीं था, फिर उसमें से (कुछ नहीं में से) सत्ता की उत्पत्ति हुई' का भी यही अर्थ है।

(४) जिस प्रकार ईश्वर के सगुण और निर्गुण रूपों के अर्थ को लेकर भ्रान्ति है उसी प्रकार जिन्हें सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति कहा जाता है उनको लेकर भी पर्याप्त भ्रम

फैला हुआ है। मूर्तिपूजा की समस्या पर विचार करते समय अध्याय पंचम में और फिर 'भक्ति के भेद' नामक अध्याय में भक्ति के विषय में हम चर्चा करेंगे। अतः यहां केवल यह भर बताना पर्याप्त होगा कि भक्ति के इन दोनों रूपों के मुख्य तत्त्व क्या हैं, यद्यपि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं ईश्वर के सगुण और निर्गुण रूपों में कोई मूल–भूत अन्तर नहीं है। जिस भक्ति में ईश्वर के नाम का जप–ध्यान होता है, नाम जो ऐसे गुरू द्वारा दिया हुआ है जिसने स्वयं ईश्वर–साक्षात्कार कर लिया है और जो ईश्वर के स्वरूप का अपलक, निरंतर दर्शन करता है, वह भक्ति निर्गुण कहलायेगी। इसके अतिरिक्त भक्ति के नानाविध रूप यथा मन्दिर जाना, मूर्तियों की पूजा करना, मूर्तियों को मानसिक रूप से ध्यान में लाकर उनका दर्शन करना, पारमार्थिक साहित्य का अध्ययन करना, ईश्वर के गुणानुवाद करना या उनको प्रार्थना करना, आदि सभी सगुण भक्ति के अन्तर्गत आयेंगे। ऐसी निर्गुण भक्ति जिसमें किसी भी प्रकार का प्रदर्शन न हो अथवा उसके विषय में ढोल न पीटे जाते हों और जिसे जितना चुपचाप किया जा सकता हो उतना चुपचाप किया जाता हो, निरन्तर करते रहना अत्यन्त दुष्कर है और इसी कारण एक महत्त्वपूर्ण सहारे के रूप में सगुण भक्ति का आश्रय लेना अत्यन्त उपयोगी है ताकि उससे अनुकूल वातावरण और भक्तिपूर्ण मानसिक स्थिति तैयार हो जावे जिससे साधक को ध्यान करने व रूप दर्शन में मग्न होने में सहायता मिल सके।

(५) जो केवल सिद्धान्त की बाते करते हैं उन्होंने जन–साधारण में एक और भ्रान्ति फैला रखी है कि जो व्यक्ति सबके साथ समान व्यवहार करे वही संत है। अपने कथन की पुष्टि में वे भगवद्गीता का वह श्लोक (५.१८) उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि 'साक्षात्कारी पुरूष ज्ञान और विनम्रता से विभूषित ब्राह्मण में, गाय, हाथी और कुत्ते में तथा कुत्ते के मांस को खाकर जीवन–यापन करने वाले व्यक्ति में एक ही (ब्रह्मन् को) समान रूप से देखता है।' परन्तु वे यह भूल जाते हैं श्लोक में 'एक ही अथवा सम ब्रह्मको' सभी वस्तुओं पर देखने के गुण का उल्लेख हुआ है और उसमें कहीं भी सबके साथ समान या एक सा व्यवहार करने की बात नहीं कही गयी है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि जगत् की समस्त वस्तुओं पर 'सम' अर्थात् ब्रह्मन् जिसका उल्लेख उपरोक्त श्लोक में (५.१६) हुआ है का दर्शन निश्चित ही हो सकता है, परन्तु तब भी जहां व्यवहार का प्रश्न आयेगा उनमें से प्रत्येक के साथ व्यवहार भिन्न–भिन्न ही होगा। ब्रह्मदर्शन प्रज्वलित अग्नि शिखा पर भी हो सकता है परन्तु कौन उसे एक मित्र समझ कर प्रेम से गले लगायेगा? वही रूप निस्संदेह एक विद्वान व पवित्र बाह्मण की देह पर तथा साथ ही एक कुत्ते या एक हाथी की देह पर दिखाई दे सकता है परन्तु पागल के अतिरिक्त ऐसा कौन होगा जो उत्तम पकवानों की थाली जो ब्राह्मण के लिए तैयार की गई है एक कुत्ते अथवा हाथी के सामने रखेगा? सभी लोगों के साथ समान रूप से व्यवहार करने का अर्थ इतना विकृत हो जायेगा कि जो श्रद्धा के पात्र हैं उनके प्रति अश्रद्धा और जो अश्रद्धा के पात्र हैं उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने तक का समर्थन करेगा। यह बुद्धिमानी न होकर नितान्त मूर्खता है; वह संतपन

का चिन्ह हो ही कैसे सकता है? समदर्शन की संगति विषम वर्तन के साथ बैठ सकती है, अतः जिसने ईश्वर–साक्षात्कार कर लिया है उसे भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के साथ भिन्न भिन्न प्रकार का व्यवहार करना पड़ता है और जो जिस प्रकार का व्यवहार प्राप्त करने का अधिकारी होता है उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना होता है।

(६) ऐसे ही मिथ्या वेदान्तियों ने एक और भ्रान्ति फैला रखी है कि जो ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है वह स्वतः ही स्वाभाविक रूप से शुभ या अशुभ, शुद्ध या अशुद्ध, अथवा पाप या पुण्य के अतीत हो जाता है। अपने इस कथन के लिए जो तर्क वे देते हैं वह यह कि ईश्वर या निरपेक्ष सत्ता स्वयं इन द्वन्द्वों से अतीत है। निस्संदेह भगवद्गीता में भी इसी आशय का उपदेश अर्जुन को दिया गया है कि उसे समस्त द्वन्द्वों से परे जाकर माया के तीनों गुण–सत्व, रज और तम–के अतीत हो जाना चाहिए परन्तु ऐसा कहते समय गीता ने अत्यन्त सावधानी पूर्वक बारम्बार यह कहा है कि हमें नीति–मार्ग से चलना चाहिए, मन और इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिए ताकि वे भटक नहीं सकें, बुद्धि और इच्छा–शक्ति को स्थिर और दृढ रखना चाहिए और सात्विक सद्गुणों को बराबर धारण करते हुए ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम और आसक्ति रखनी चाहिए। यह शुभ और अशुभ अथवा पाप और पुण्य के नैतिक भेद से परे जाना नहीं है। इसके विपरीत यह तो उन सबका पूरे पूरे ध्यान से व सम्पूर्ण इच्छा–शक्ति से जान–बूझकर पालन करना है क्योंकि उसके बिना ईश्वर के प्रति अविचल प्रेम हो ही नहीं सकेगा। इतना ही नहीं, जिसे थोड़ा–बहुत ईश्वर का ज्ञान हो गया है उसे हमेशा ही सत्वगुण को अपना कर नीति–मार्ग पर चलना चाहिए ताकि आत्मिक उन्नति के दुरारोह पथ पर अग्रसर होने के लिए उसे पर्याप्त शक्ति प्राप्त हो सके और अकस्मात ही दुर्गुण और पाप के गहरे गर्त में गिरने से बच सके। उसे हमेशा इस बात के लिए सावधान रहना चाहिए कि उसके नैतिकतापूर्ण आचरण को जीवन की किसी भी स्थिति में आँच नहीं आने पावे। अन्यथा तमोगुण से उत्पन्न दुर्वासनाएं और प्रलोभन तथा रजोगुण से उत्पन्न अविवेकपूर्ण उत्साह और क्रियाएं उसे उसकी सत्व–स्थिति से हटा देने के अवसर की ताक में बैठी ही हैं। संक्षेप में, यह कहना कि संत जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकता है अत्यन्त भयावह है क्योंकि जिस ईश्वर का साक्षात्कार उसे प्राप्त हुआ है वह जगत की समस्त वस्तुओं से परे है। ईश्वर 'परे' इस अर्थ में है कि वह जगत की समस्त वस्तुओं में होते हुए भी उनसे अदूषित रहता है। ईश्वर निष्कलंक है और इसीलिए वह अग्नि से जलता नहीं है, पानी में भीगता नहीं है, अथवा वायु से उड़ाया नहीं जा सकता है। संत के देह होती है जो आग से जल जायेगी, पानी में डूब जायेगी अथवा पवन के भीषण वेग से उड़ा दी जा सकेगी।

अतः संत 'अच्छे और बुरे' से अतीत हो जाता है ऐसा कहने का अर्थ यह है कि जब वह ईश–नाम के ध्यान में निमग्न रहता है अथवा ईश्वर के रूप–दर्शन में तल्लीन होता है तब आनन्दातिरेक की वह स्थिति जो उसे प्राप्त हुई है अच्छाई और बुराई के अतीत होती है। केवल उस स्थिति में ही उसकी देह नहीं के बराबर होकर रहती है क्योंकि उस स्थिति

में ही उसका मन और उसकी इन्द्रियें ईश्वर के नाम और उसके रूप की ओर पूर्ण रूप से अभिमुख होती हैं। केवल तभी उसके लिए यह कहा जा सकता है कि वह जल में कमल के समान ही अदूषित होता है जैसा अदूषित उसके सामने उपस्थित ईश्वर का रूप है। अन्य सभी अवसरों पर उसे न्यूनाधिक मात्रा में अपनी देह, मन, इन्द्रियें, बुद्धि और अहंकार का भान रहता ही है। तब उसे अच्छे और बुरे का ज्ञान कैसे नहीं होगा? और तब उस दशा में बुराई से बचना और अच्छाई को अपनाना उसके लिए क्यों संभव नहीं हो सकता? उसकी रूचि बुरे और गलत कामों को करने में ही हो तो बात दूसरी है। अच्छे और बुरे से परे जाने का मार्ग बुराई और पाप में से होकर नहीं है। उसके लिए बुराई से बचकर, अच्छाई के मार्ग से होते हुए उस ओर जाना पड़ता है जो अति श्रेष्ठ हैं अर्थात् जहां ईश्वर की उपस्थिति है।

(७) अन्त में, कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनके मत से जब तक एक व्यक्ति पहले नैतिक दृष्टि से गुणवान बनकर पारमार्थिक जीवन का ठीक ठीक निर्वाह करने के लिए तैयार नहीं हो जावे तब तक परमार्थ की दीक्षा लेना उसके लिए उचित और लाभप्रद हो भी सकता है या नहीं। वे उसे संदेहास्पद मानते हैं। मनुष्य को पहले पाप–मुक्त होना चाहिए और फिर ईश्वर से सम्पर्क और मिलने की आशा करनी चाहिए। ईश्वर आकर निवास करे उससे पूर्व उसके मन्दिर को स्वच्छ और पवित्र बनाना चाहिए। जहां तक मनोवृत्तिका और जैसा कि हम एक अन्य अध्याय में देखेंगे, नैतिक तैयारी का प्रश्न है, निस्संदेह यह कथन सत्य है। मानसून के आने और बीज को बोने से पूर्व भूमि को कोमल और उर्वरा बनाना आवश्यक है। जिस घर को पहले से ही ईश्वर के आने के लिए स्वच्छ और पवित्र बना लिया गया है उस घर में अवश्य ही ईश्वर रहना पसंद करेगा। परन्तु यही सम्पूर्ण सत्य नहीं है। नैतिकता को हम स्वतंत्र ओर स्वावलम्बी मान सकते हैं परन्तु संदेह केवल इस बात का है कि क्या वह उस स्थिति में ही पूर्णता को प्राप्त हो सकेगी और उस पूर्णता में बिना मानेवच्छा से दूषित हुए स्थिर रखी जा सकेगी। नैतिक नियमों को 'अन्तरात्मा के आदेश' अथवा 'सामाजिक इच्छा–शक्ति की मांग' के रूप में दैवी स्वीकृति पर आधारित मानना भले ही आवश्यक न हो, परन्तु जीवन में आने वाले सांसारिक प्रलोभनों को देखते उनकी संपूर्ति ईश्वर–कृपा के बिना सर्वथा असंभव ही लगती हैं। छत्रपति शिवाजी द्वारा भेंट स्वरूप लाये गए विशाल कोष को यह कह कर कि 'मेरे लिए सोना और मिट्टी का ढेला एक बराबर ही है' ठुकरा देने के लिए अथवा पापपूर्ण उद्देश्य से अपने पास आई हुई कुलटा स्त्री को यह कहना कि 'स्वयं मेरी पत्नि के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियें मेरे लिये (माता) देवी रूक्मणी के समान है, तुकाराम जैसा ही साहस चाहिए। परन्तु तुकाराम के लिए भी ऐसा कर सकना तभी संभव हो सका कि जब उन्होंने एक महान संत के उच्च पद को प्राप्त कर लिया था। इसी कारण इंचगेरी के संत श्री अंबूराव महाराज भी ऐसे धन का कोई भी भाग लेना अस्वीकार कर सके जो एक व्यक्ति को लॉटरी से प्राप्त होने वाला था। उन्होंने कहा कि

'दूसरों से धन लूटकर स्वयं धनी बनना एक प्रकार की चोरी ही है।' हमारे विचार से अत्यन्त विपन्न परिस्थितियां में भी दूसरों की वस्तु के प्रति किंचित मात्र भी लोभ नहीं होना एक व्यक्ति में पारमार्थिक अन्तर्दृष्टि से पुष्ट नैतिकता का ही चिन्ह है। संक्षेप में, हम जो कहना चाहते हैं उसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर–साक्षात्कार की शक्ति के अभाव में नैतिक पूर्णता प्राप्त हो ही नही सकती।

यदि यह भी मान लें कि एक व्यक्ति सत्त्व गुण में वृद्धि करके और तमोगुण तथा रजोगुण को उसके आधीन करके बिना ईश्वर की सहायता के अपने नैतिक महत्त्व को बढा सकता है तो भी गीता के कथनानुसार सत्वगुण स्वयं ही मनुष्य को ज्ञान और आनंद के अहंकार से बांधता है। सोने की श्रृंखलाएं भी आखिर है तो श्रृंखलाएं ही और इसीलिए कोई भी व्यक्ति सत्त्वगुण की वृद्धि करके उसके परे नही जा सकता क्योंकि सत्त्वगुण उस स्थिति में भी अहंकार की उत्पत्ति करेगा ही। ईश्वर से अथवा संतों से सम्पर्क होने पर ही अहंकार के इस कलंकपूर्ण धब्बे को धोया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जीवन में कहां पहुंचकर एक आदमी यह कह सकेगा कि वह अब नैतिक दृष्टि से पूर्ण हो गया है? वास्तव में यह तो जीवन–पर्यन्त चलने वाला ऐसा संघर्ष है जिसमें भूलें नहीं होना या धक्के नही लगना संभव ही नहीं है। और ठीक ऐसे अवसरों पर ही ईश्वर की व गुरु की कृपा सहायता के लिए आ सकती है।

अतएव किसी को भी इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि वह पहले स्वयं अपने प्रयत्नों से पूर्णरूप से निष्पाप हो सकेगा और फिर पारमार्थिक जागृति प्राप्त करेगा। वह चाहे पापी ही हो और उसे अपने पापी होने का भान भी हो, परन्तु सचमुच ही यदि वह पाप–मुक्त होना चाहता है तो उसे किसी ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आना चाहिए जिसने ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है। स्वयं भगवान कृष्ण ने गीता में (६.३०) हमें यह आश्वासन दिया है कि यदि भगवन्नाम पर भक्तिपूर्वक ध्यान करना प्रारम्भ कर दे तो एक घोर पापी का भी उनकी कृपा से उद्धार हो जायेगा। अतएव यह न केवल उचित बल्कि आवश्यक भी है कि पापी को भगवान की कृपा प्राप्त करने की और भी अधिक शीघ्रता करनी चाहिए। उसे इस बात की लज्जा नहीं लगनी चाहिए कि वह अपने देह–रूपी भगवत्–मन्दिर को उनके स्वागतार्थ स्वच्छ और पवित्र नहीं बना सका है। चाहे उसमें पापों का कूड़ा और अज्ञान का अंधकार ही क्यों न भरा हो, ईश्वर को अंदर आने दो, वे उसमें ज्ञान का प्रकाश फैला देंगे (भ.गी. १०.११) और अपने भक्तों के लिए स्वयं पापों के कूड़े को हटाकर साफ कर देंगे। पापी संत बन जाएंगे। स्वामी रामदास के शब्दों में जब ईश्वर से दूर होना ही सबसे बड़ा पाप है तब पापी के लिए ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करने से बड़ा पारमार्थिक लाभ और क्या हो सकता है?

(३)

धार्मिक विश्वास

(१) **उपयोगितावाद, ईश्वरवाद और साक्षात्कार**ः धार्मिक विश्वास दो रूप ग्रहण कर सकता है : एक तो ईश्वर का अस्तित्व है केवल इसी तथ्य पर विश्वास करना, और दूसरा केवल ईश्वर के अस्तित्व में ही नहीं बल्कि उसके स्वरूप और उसको जाने जा सकने के तथ्य में भी विश्वास करना। प्रथम प्रकार के विश्वास में ईश्वर का अस्तित्व हो सकता है मगर उसे जाना नहीं जा सकता ऐसा भाव निहित है; दूसरे के अनुसार वह अपने अस्तित्व और स्वरूप में जाना भी जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में तथाकथित प्रचलित तर्क अथवा प्रमाण तथा उनको लेकर किये गये पिष्टपेषित और रुक्ष विवाद से यहां हमारा सम्बन्ध नहीं हैं जैसा ई0 बेवान ने कहा है वे तर्क 'जो पहले से ही ईश्वर में विश्वास करते हैं उन लोगों को बौद्धिक संतोष मात्र प्रदान करते हैं।'[१] लॉक की तरह अज्ञेयवादी भी किसी ऐसे अस्तित्व में विश्वास कर सकता है जिसके स्वरूप को या तो वह जानता नहीं है या फिर जानना चाहता नहीं है। इस प्रकार के विश्वास से भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि वह बौद्धिक विलास या समय व्यतीत करने के साधन से अधिक कुछ नहीं है। इसके विपरीत हमारी रूचि ईश्वर के गुणों को जानने और उनको अधिकाधिक आत्मसात करने में है इसलिए इस अध्याय में हमारा सम्बन्ध 'उनके स्वरूप और गुणों को जान सकते हैं' ऐसे विश्वास के औचित्य–प्रदर्शन से ही रहेगा। अब क्योंकि ईश्वर का स्वरूप अथवा दैवी गुण केवल हवा में अधर लटके हुए नहीं रह सकते अतः वे एक ऐसे ईश्वर में होने चाहिए जिसका अस्तित्व है। ईश्वर के अस्तित्व का भी तब तक कोई अर्थ नहीं हो सकता जब तक कि वह अपने स्वरूप और गुणों के कारण मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से जुड़ा हुआ या सम्बन्धित न हो। संक्षेप में, हमारा धार्मिक विश्वास यदि खरा हो तो ऐसा होना चाहिए कि हमारे व्यक्तिपरक झुकाओं और धारणाओं से परे जाकर कुछ ऐसे निश्चित तथ्यों की ओर संकेत कर सके जिनमें वस्तुगत प्रामाणिकता और तर्क–संगति हो और कम से कम उन लोगों द्वारा सन्देहास्पद नहीं समझा जा सके जिनको उनका अनुभव प्राप्त हुआ है। इतना ही नहीं, केवल 'यह लाभ अथवा वह लाभ' होगा ऐसे परिणामों के आधार पर औचित्य निर्धारित करने वाले उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भी उसे परे होना चाहिए; वास्तव में उसको एक सच्चा विश्वास होना चाहिए। बेवान का कहना है कि 'ईश्वर प्रेम स्वरूप है इस प्रकार के विश्वास के कारण जो आचरण प्रकट होता है वह मानवता के मापदण्ड से ही सर्वश्रेष्ठ नहीं होता बल्कि एक ऐसा आचरण होता है जिसकी चरम सत्य से सर्वाधिक संगति होती है।'

---

[१] Symbolism and Belief, p. 386.

उपयोगितावादी दृष्टिकोण के अनुसार सच्चा विश्वास वह है जिससे हमारा प्रयोजन सिद्ध होता हो अथवा जिसका परिणाम उचित आचरण में प्रतिफलित होता हो। परन्तु हमारे प्रयोजन के सिद्ध होने से यह प्रमाणित नहीं होता कि हम जिस मान्यता को आधार मानकर काम करते हैं वह सत्य है क्योंकि जैसा बेवान कहते हैं 'एक गलत मान्यता के आधार से भी सही आचरण की निष्पत्ति हो सकती है।'[१] यह संभव है कि असत्य अधिक उपयोगी प्रमाणित हो जैसा कि वास्तव में वह ऐसे प्रचारकों तथा एकस्व अधिकार–प्राप्त दवाई–विक्रेताओं के लिए होता है जो उन दवाइयों की प्रभावोत्पादकता के विषय में प्रायः कुछ भी नहीं जानते। यदि उपयोगिता (या प्रयोजनसिद्धि) ही को सत्य की कसौटी समझे तो हम संभावना और सापेक्षता के क्षेत्र में जा उतरेंगे। एक तर्क–वाक्य 'ईश्वर कृपालु है' कुछ समय के लिए भली प्रकार काम कर सकता है, परन्तु (संसार में फैली) बुराई की समस्या सामने आती है तो उसे केवल संभाव्य ही समझा जा सकेगा। पुरातन काल से जो विश्वास चलता आ रहा है कि 'ईश्वर कोप करता है' उसका प्रयोग यदि हम किसी आदमी को सही रास्ते पर लाने के लिए करें तो दूसरा एक उतना ही सत्य तर्क–वाक्य कि 'ईश्वर कोपवन्त है' प्राप्त हो जाता है। परन्तु जब तक ये दोनों उपयोगी रहते हैं और इसी कारण निर्विवाद रूप से सत्य मान लिए जाते हैं तब तक इन दोनों के वस्तुनिष्ठ सत्य की उपेक्षा होती रहेगी।

केवल ईश्वरवाद ही एक ऐसे ईश्वर में विश्वास करता है जो अनेक गुणों से सम्पन्न है और साथ ही श्रद्धा व पूजा का उपयुक्त पात्र है। परन्तु कुछ आलोचकों का कहना है कि ईश्वर में शक्तियों और गुणों का आरोप मनुष्य की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के परिणामस्वरूप होता है और तब ईश्वरवादी विश्वास मानवता–आरोपण मात्र बन जाता है। डॉ0 फरनेल का कथन है कि 'व्यक्तिवादी ईश्वरवाद एक दृष्टि से मानवता–आरोपण मात्र ही है क्योंकि हम ईश्वर का अपनी खुद की क्षमताओं के संदर्भ में और हमारे अपने संवेगों के या नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक अनुभवों के प्रकाश में ही आकलन कर सकते हैं।'[२] अब यदि ईश्वरवाद को मानवता–आरोपण के स्तर पर ही उतार लाना है और उस दशा में भी हम यदि ईश्वर में से मानव गुणों को हटाने की प्रक्रिया को आगे बढाते रहना है ताकि ईश्वर के आदर्श रूप में जो कुछ मानवीय, 'व्यक्तित्व की विशिष्टताएं' या उसके घटक है उनको दूर हटा सकें तो फिर ईश्वर के रूप में शेष कुछ भी नहीं रहेगा। ईश्वर हमारे लिए केवल रिक्तता या शून्य रह जायेगा। तब हमारे इस कथन की कि 'हमारा ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है वैसे ही कोई सार्थकता नहीं रहेगी जैसे कि मेरा 'क' के अस्तित्व में विश्वास है कहने में कोई सार्थकता नहीं रहती।'[३]

---

[१] Symbolism and Belief, p. 332

[२] Attributes of God, pp. 21-22

[३] Symbolism and Belief, p. 254

यदि ईश्वरवादी विश्वास की वस्तुनिष्ठता को इस प्रकार धक्का लगेगा और उसका तिरस्कार इस कारण किया जायेगा कि वह मानवता–आरोपण मात्र है तो धर्म, कविता और कला से अधिक कुछ नहीं रहेगा जो सभी प्रकार से अर्थ का आभास और संवेगाात्मक उत्तेजनाएं तो प्रदान कर सकते हैं, परन्तु ऐसे किसी सत्य की ओर संकेत नहीं कर पाते जो उनसे परे या अतीत है। ऐसा धर्म जिसमें अतीन्द्रिय भावनाएं जो चाहे कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो तो मिलती हो परन्तु जो किसी असीम सत्य की ओर संकेत न करता हो उस संगीत के स्तर का ही माना जायेगा जो हमें आनंद तो प्रदान कर सकता है परन्तु फिर भी सर्वथा निरर्थक हो सकता है। सत्य कहें तो हमारे पास ईश्वरविषयक बौद्धिक धारणा भले ही हो, वास्तविक ईश्वर नहीं होगा; प्रतीक मात्र हो सकते हैं, वास्तविक सत्य नहीं। यदि हमें प्रतीकों के स्थान पर सुनिश्चित बोध प्राप्त करना है और अज्ञेयवाद, उपयोगितावाद और मानवता–आरोपण के फन्दों से बचना है तो शिव, शक्ति और सौन्दर्य जैसे गुणों से हमारा एक ऐसे अप्रमाणित सिद्धान्त में विश्वास प्रकट होना चाहिए जिसका मैक्टागार्ट के शब्दों में तात्त्विक महत्व हो।

धर्म को उसके अप्रमाणित सिद्धान्तों और भावनाओं दोनो से बचाने के लिए और यह कह सकने के लिए कि 'ईश्वर में वास्तव में ही ऐसे गुण हैं जिनसे संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होती हैं हमें ईश्वरवाद के पीछे साक्षात्कारवाद की शक्ति लगा देनी चाहिए', ईश्वर के दाशर्निक औचित्य को प्रमाणित करने के लिए उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार प्राप्त करना चाहिए। उस दशा में ही हमारा धार्मिक विश्वास संयोग मात्र न रहकर आनंदपूर्ण ज्ञान और क्रिया का एक अचूक स्रोत बन सकेगा।

'साक्षात्कार' चरम सत्य से तात्कालिक व प्रत्यक्ष सम्पर्क है। अतः उसका विश्वसनीय विवरण साक्षात्कारी पुरुष के लिए तथा उन सबके लिए जिनकी उसमें आस्था है एक ऐसे सत्य स्वरूप–विवरण होगा जो उनके लिए अकाट्य है। अब 'ईश्वर कृपालु है' इस तर्क–वाक्य का फिर साक्षात्कारवाद की दृष्टि से विचार करें। वह व्यक्ति जिसने ईश्वर को देखा है और जिसको उसकी कृपा का अनुभव प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है तथा जिसके पास ईश्वर के अस्तित्त्व की सच्चाई में सन्देह नहीं करने का पर्याप्त कारण है, उसके लिए ईश्वर और उसकी कृपा अन्धविश्वास मात्र न होकर अनुभव पर आधारित विश्वास होगा। तब इस तर्क–वाक्य में विश्वास किसी काल्पनीय या संभावित ईश्वर और उसकी ऐसी ही कल्पित कृपा में विश्वास नहीं होकर एक ऐसा विश्वास होगा जिसमें वास्तविक ईश्वर की अनुभूति व उसकी कृपा का वास्तविक अनुभव पूर्वानुभूति के रूप में उसके विश्वास का आधार बनेगा तथा तत्पश्चात दूसरे ऐसे व्यक्तियों का विश्वास होगा जिनके लिए उस व्यक्ति के अनुभवों की सत्यता पर सन्देह न करने के पर्याप्त कारण हैं। संत पॉल ने दामास्कस की सड़क पर जाते हुए 'सूर्य की दीप्ति से भी अधिक तेजोमय' जो स्वरूप देखा था और उतने ही निश्चित रूप से जो वस्तुनिष्ठ वाणी कि 'वह स्वरूप और

कोई नहीं स्वयं ईसा है' सुनी थी उससे उनके लिए ईश्वर व उसकी कृपा प्रत्यक्ष रूप से बोधगम्य हुए थे, केवल अनुमानित अटकलें नहीं थी। और फिर बाईबल के उन पाठकों के लिए जिनको संत पॉल के वचनों की सत्यता पर अंगुली उठाने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता, 'सूर्य की दीप्ति से भी अधिक तेजोमय' आदि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त अनुभव यदि उतना ही नहीं तो करीब करीब उतना ही सत्य तो होगा ही जितना कि स्वयं संत पॉल के लिए था।

पॉल के अनुभव को आधारभूत तथ्य स्वीकार कर लेने तथा स्वरूप दर्शन और (अनाहत) वाणी को साक्षात्कारी सत्य स्वीकार कर लेने पर बाईबल के पाठकों के लिए 'सूर्य की दीप्ति से भी अधिक तेजोमय' वाक्यांश थोथा प्रतीक अथवा मस्तिष्क का उन्माद मात्र न रह कर उनसे कहीं अधिक विश्वसनीय और अर्थ–सम्पन्न बन जाता है। परन्तु यदि साक्षात्कारी संत के अनुभवजन्य आधार को हटा लिया जावे तो यही विश्वास छिन्न भिन्न होकर गिर जायेगा और तब अनुभव विषयक अभिव्यक्ति शाब्दिक बिम्बविधान का एक सुन्दर उदाहरण भर प्रतीत होगी जिसके अनुरूप और जिसके परे किसी सत्ता का अस्तित्व हो भी सकता है और नहीं भी। कलाकृति के रूप में बिम्ब विधान अतिशय मनोरंजक हो सकता है और उपयोगी भी परन्तु यथार्थ में उसका अर्थ कुछ भी नहीं रहता।

मानवता के इतिहास के प्रारम्भिक काल से आज तक विश्वभर में सभी कहीं साक्षात्कारी सन्तों ने जिन पारमार्थिक अनुभवों का विवरण दिया है उन्हें हटा लीजिए, अर्थात रूप–दर्शन और अनाहत शब्द जिनके आधार पर साक्षात्कारी सन्त अधिकारपूर्वक ईश्वर के गुणों का यथा सौन्दर्य, शक्ति, प्रताप, प्रज्ञा, कृपा, दया, प्रेम, साधुता इत्यादि के विषय में कहते हैं, उनको हटा लीजिए और तब ईश्वरवाद अपने समस्त जीवट चिन्तन के उपरान्त भी उस पर लगाये जाने वाले मानवता–आरोपण, अर्थात इस अभियोग के विरूद्ध कि ईश्वरवाद में उल्लेखित ईश्वर के गुण मानवता के गुणों को पूर्णता तक पहुंचाये गये गुणों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, का कोई उत्तर नहीं दे सकेगा। हमको यह अभियोग सर्वाधिक गंभीर प्रतीत होता है; क्योंकि मानवता–आरोपण संदेहवाद या अज्ञेयवाद की तरह स्पष्ट रूप से ईश्वर को न तो अस्वीकार करता है और न संदेह की दृष्टि से देखता है, परन्तु चुपचाप मित्र के भेष में पहले ईश्वर के गुणों की प्रशंसा करके मनुष्य को ईश्वर की आराधना करने को प्रोत्साहित करता है और फिर उसकी इस कारण निन्दा करता है कि वह ऐसी सत्ता का आदर कर रहा है जो मनुष्य की ही प्रतिमूर्त्ति है और इस प्रकार ईश्वरवाद की जड़ें ही काट डालता है। यह अभियोग नासमझी का परिचायक है ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा। वास्तविकता यह है कि साक्षात्कारी अनुभव के आधार के अभाव में ईश्वरवाद के पास इस अभियोग का कोई उत्तर ही नहीं है। जब से प्रशंसनीय ढंग से यूनानी दार्शनिक जेनोफ़नीज ने यह आरोप लगाया है और कहा है कि 'यदि बैलों व घोड़ों के हाथ होते और वे अपने हाथों से चित्रकारी करके मनुष्यों की तरह कलाकृति

का निर्माण कर सकते तो घोड़े देवताओं को घोड़ों के रूप में ओर बैल बैलों के रूप में अंकित करते'[9] तब से यह आरोप अखण्डित है। यदि हम इसका खंडन करना चाहें तो साक्षात्कारी सन्तों के कथन के आधार पर ही ऐसा करने की आशा कर सकते हैं क्योंकि वे जो कुछ कहते हैं उसके पीछे उनके अनुभव की शक्ति लगी हुई है।

यदि साक्षात्कार द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के प्रकाश में मानवता–आरोपण की प्राचीन शब्दावली में से नवीन अर्थ की खोज की जावेगी तो मानवता–आरोपण की परम्परा से चली आने वाली कटु वाणी सदैव के लिए शान्त हो जायेगी और ईश्वरवादी विश्वास सदैव के लिए स्थायित्व प्राप्त कर लेगा। यदि ईश्वर के गुणों की कल्पना मानवीय गुणों के रूप में की जायेगी तो मानवता–आरोपण का अभियोग सदा बिना किसी उत्तर के अखण्डित ही रहेगा। परन्तु यदि उनको साक्षात्कारी अनुभव में आने वाले ईश्वर के अतीन्द्रिय और अपरिभाष्य पक्षों के संकेत मात्र के रूप में ग्रहण किया जावें और यह कहा जावे कि ये संकेत उन अनुभवों को बुद्धिगम्य बनाते हैं और जो सामाजिक संप्रेषण के लिए अपर्याप्त और काम चलाऊ मानवीय भाषा व बिम्बों में प्रतिनिधिक रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं तो वही मानवता–आरोपण ईश्वरवाद के लिए ओट का काम करने लगेगा और तब यह कहा जा सकता हे कि वह सत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहता। अब आगे के लिए हमें मानवता–आरोपण के कल्पना–प्रसूत और प्रतिनिधिक इन दो रूपों के भेद को ध्यान रखना चाहिए। एक में ईश्वर व उसके गुणों की कल्पना की जाती है जिनका अस्तित्व हो भी सकता है और नहीं भी, दूसरे में साक्षात्कारी अनुभव का सच्चा सच्चा विवरण जो कितना ही अपर्याप्त क्यों न हो प्रस्तुत किया जाता है। केवल कल्पना हमें ईश्वर की ओर न ले जाकर शैतान की ओर भी ले जा सकती है, इसलिए विश्वसनीय प्रतिनिधित्व के लिए साक्षात्कारी सन्तों के अनुभवों का सहारा लेने के अतिरिक्त हमारे पास और कोई चारा नहीं ईश्वर के वे गुण जो वास्तव में किसी व्यक्ति विशेष के अनुभव में आये हैं और जिनका वर्णन स्वयं उसी व्यक्ति द्वारा स्मृति के आधार पर किया गया है तो अधिक विश्वसनीय होगा और वैसे ही उनका वर्णन किसी ऐसे अन्य व्यक्ति द्वारा जिसकी बात पर विश्वासपूर्वक निर्भर रहा जा सकता है, किया गया है तो वह भी उतना ही विश्वसनीय होगा। ईश्वर और उसके गुणों का ऐसा वर्णन जो तात्कालिक तथा प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है कल्पना द्वारा किये गये वर्णन से उतना ही भिन्न होता है जितना अन्तर्दर्शन व अनुदर्शन, अग्रदर्शी वर्णन व बौद्धिक अनुमान से भिन्न होता है।

अतएव यदि भगवद्गीताकार विश्वरूप का ओजस्वी वाणी में वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसके असंख्यों नेत्र, असंख्यों हाथ इत्यादि है, जो अत्यन्त भयावह परन्तु साथ ही आकर्षक भी है तथा जिसके भिन्न–भिन्न रंग व आकार हैं, तो यह वर्णन काल्पनिक व काव्यात्मक प्रकार का मानवता–आरोपण न होकर वास्तविक, प्रतिनिधि प्रकार का है जो हमें

---

[9] Burnet, Early Greek Philosophy, p. 110.

साक्षात्कारी 'ज्ञान' के स्वरूप से परिचित कराता है। यह दया या क्रूरता का मानवीय गुण नहीं है जिसे पहले कल्पना में चरम सीमा तक पहुंचाया गया हो और फिर किसी सर्वोच्च और शक्तिशाली सत्ता की कल्पना कर उसे ईश्वर नाम की संज्ञा दी गई हो तथा उन गुणों को उसमें निहित बताया गया हो; यह तो कृपा अथवा रोष का ऐसा दैवी गुण है जो पहले अनुभव में आता है और फिर बोधगम्यता के लिए मानवी भाषा में प्रेम अथवा क्रोध जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसी कारण केवल साक्षात्कारी पुरुष ही ईश्वर के रोष, उसकी क्रूरता व उसकी भयावहता का वर्णन उतने ही निश्चय से करता है जितने निश्चय से वह उसके प्रेम, कृपा और मनोहारी स्वरूपों का। यह मनुष्य के मन की मौज मात्र नही है जो ईश्वर को सज्जन लोगों का संरक्षण करने वाला व उनको प्रेम करने वाला बताती है तथा उसे रोषपूर्ण होने पर दुष्टों का विनाश करने वाला कहती है; यह तो उस अनुभव का वर्णन है जिसमें ईश्वर इस प्रकार से व्यवहार कर अपने आपको (कृपालु या रोष युक्त) प्रकट करता है। उदाहरण के लिए अर्जुन को इस बात का पक्का निश्चय हो जाता है कि ईश्वर प्रेमपूर्ण भी है और भयावह भी क्योंकि उसने विश्वरूप दर्शन में मृत्यु की भयानक दाढों में अपने शत्रुओं को पिसते हुए देखा था, परन्तु साथ ही स्वयं इस बात के लिए उस रूप द्वारा आश्वास्त किया गया था कि केवल वही अपनी भक्ति के कारण बच सकेगा। 'सप्तसती' के लेखक ने देवी का वर्णन करते हुए कहा है कि उनके हृदय में कृपा है परन्तु युद्धभूमि में वे अपनी भयानक प्रकृति को व कूरता को ही प्रदर्शित करती हैं।

अतएव ये सभी तर्क–वाक्य कि 'ईश्वर कृपालु है', 'ईश्वर रोषरूप है', 'ईश्वर चतुर्भुज धारी विष्णु का रूप धारण करता है', ईश्वर हंस के रूप में, तारे के रूप में, सूली के रूप में, अर्द्ध चन्द्र के रूप में, सूअर, शेर अथवा घोड़े के रूप में प्रकट होता है। यह जेनोफनीज ने जैसा बताया है वैसे मानवता–आरोपण जिसमें ईश्वर को किसी काल्पनिक आकार या गुण का आदर्श अधिष्ठान बताया गया हो नहीं है, बल्कि साक्षात्कारी पुरूषों द्वारा अनुभव किये गये ऐसे सत्य का समूह है जिसको बुद्धिगम्य आकार व भाषा–विधान देकर यथासंभव ठीक ठीक उसी रूप में प्रस्तुत किया गया है जिस रूप में उसका अनुभव हुआ था। अगर नाम बनाये ही रखना है तो यह एक सर्वथा नवीन प्रकार का मानवता–आरोपण होगा जिसका कार्य कल्पना करना न होकर जो कुछ अनुभव में आया है उसको सही सही ढंग से प्रकट करना है। जैसा कि कैनन स्ट्रीटर ने भौतिकवाद को स्पष्ट करने के प्रयत्न में अथवा असीम सत्ता को यंत्र की प्रतिमूर्ति के रूप में प्रस्तुत करने के लिए एक नये शब्द 'यन्त्रारोपण' का निर्माण किया था[9] उसी प्रकार हम भी इस नवीन ढंग के 'मानवता–आरोपण' को 'साक्षात्कार–आरोपण' जैसा नया शब्द गढ कर उसे यही संज्ञा दे सकते हैं। समष्टि रूप में, मानवता–आरोपण' का यह नवीन प्रकार या 'साक्षात्कार–आरोपण' ही ऐसा है जो एक ओर तो हमें संदेहवाद से और दूसरी ओर थोथे ईश्वरवाद से बचा

[9] Reality, p. 9.

सकता है और हमारे धार्मिक विश्वास को संतों की साक्षात्कार–अनुभूति की दृढ भूमि पर आधारित कर सकता है।

(२) **धार्मिक विश्वास के निकर्षः**[२] अब हमको सामान्य व्यक्तियों के धार्मिक विश्वास का निर्माण करने वाले तत्त्वों की परीक्षा करनी चाहिए कि वे कहां तक निर्दोष और निरापद कहे जा सकते हैं।

परम्परा का तत्व : जब किसी विश्वास के लिए तर्क–प्रमाण उपलबध करना संभव न हो तब सामान्यतः वह जिस ढंग से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाया जाता है वह है 'आप्त प्रमाण'। आप्त सत्ता चाहे परिवार में वरिष्ठ सदस्य द्वारा या शाला में अध्यापक द्वारा, या समाज में प्रमुख व्यक्तियों द्वारा, या किसी धार्मिक मुखिया द्वारा (धर्म–गुरु) प्रयोग में लाई गई हो, मन कुछ संकेतों को ग्रहण करता है जो समय पाकर विश्वास के रूप में दृढ हो जाते हैं। मन की संकेत–ग्रहण–शक्ति भी बढती जाती है और जैसा डॉ0 रिवर्सन ने बताया है वह उस सत्ता की आज्ञा के प्रति तत्काल व बिना कोई प्रश्न किये वैसी ही प्रतिक्रिया करता है जैसी कि सैनिक अभ्यास के द्वारा संकेत ग्रहण करने की शक्ति बढ जाने के पश्चात एक सैनिक करता है।

आप्त जन द्वारा दिये गये संकेत और उनका बिना प्रश्न किये पालन विश्वास को बनाये रखने का एक अत्यन्त उपयोगी ढंग है। उससे एक समूह के सदस्यों को एक व्यक्ति के अधीन अथवा उनको किसी एक सामान्य विचार अथवा विचार–समूह से बांधा जा सकता है। परन्तु महत्वपूर्ण बात जो इस संदर्भ में ध्यान रखने की है वह यह है कि आबद्व करने की यह शक्ति, जैसा कि भ्रम के कारण माना जाता है, कुछ ऊपरी बातों पर जैसे आज्ञा–पालन का गुण अथवा संकेतात्मक शक्ति पर निर्भर नहीं करती। वह उस विचार की सत्यता के केन्द्रीय भाव पर निर्भर करती है जो सत्ताधारी व्यक्ति को तो विदित है परन्तु उसके अनुयायियों को अधिकांशतः अविदित। सैनिक सेनापती की आज्ञा–पालन करते हैं और उसके आदेशों को क्रियान्वित करते हैं। निस्सन्देह यह आवश्यक है कि सैनिक आज्ञाकारी हो और सेनापती शक्तिशाली व बिना हिचकिचाहट के आज्ञा देने वाला हो। और फिर भी, यदि जिस उद्देश्य को लेकर सैनिक व सेनापती युद्ध करते हैं उसको ही हानि पहुंचाने का कार्य करने वाले आदेश वे देते हों तो उनका पालन, मृत्यु के भय की दशा के अतिरिक्त, अधिक समय तक किये जाने की संभावना नहीं है। जिस क्षण यह पता चलेगा कि आदेशों में मिथ्या योजना निहित है और वे देशभक्त और कर्त्तव्यपरायणता के अनुरूप नहीं हैं तो उसी क्षण सेना में विद्रोह हो सकता है। सत्ता की वाणी के प्रति निष्क्रिय स्वीकृति तभी तक संभव है जब तक कि जो आज्ञा देते हैं और जो आज्ञा–पालन करते हैं वे दोनों ही एक सामान्य आदर्श से आबद्ध हों क्योंकि उसमें निहित सत्य उन सभी को सामान्य उद्देश्य के रूप में प्रिय होता है। आज्ञा देने वालों ने उस उद्देश्य को प्राप्त कर

[२] धार्मिक विश्वास का पंचविध वर्गीरण आर.एच. थोलेस का है, यद्यपि उनका निरूपण भिन्न है।

लिया है और जो आज्ञा पालन करते हैं उन्हें अपने से वरिष्ठ (लोगों) की आज्ञा–पालन द्वारा उसकी प्राप्ति की आशा है।

अपने से वरिष्ठ लोगों ने जो प्राप्त कर लिया है उसे प्राप्त करने की इच्छा ही सत्ता में विश्वास का, नेता के प्रति पूज्यभाव का व धर्म के परम्परागत स्वरूप का रहस्य है। जब तक शक्ति और ज्ञान एक विशिष्ठ व्यक्ति अथवा संस्था में सन्निहित है तब तक असमानता के उपरान्त भी सब कुछ व्यवस्थित ढंग से चलता है, परन्तु जैसे ही एक विचार और उसको अन्य लोगों पर सामान्य हित के लिए लागू करने की शक्ति के बीच में दरार पड़ जाती है वैसे ही विद्रोह के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। वे विचार किसी वस्तुनिष्ठ सत्य के प्रतीक होने के स्थान पर थोथे ढांचे मात्र रह जाते हैं और फिर भी रीति–रिवाज के कारण अथवा परम्परा के कारण इतने प्रिय हो जाते हैं कि सत्ताधारी व्यक्ति अथवा संस्थाओं को उनका संरक्षण कट्टरता, उत्साह व कभी कभी शारीरिक शक्ति के प्रयोग द्वारा करने का प्रलोभन होता है। ठीक इसी कारण पोप की सत्ता को समाप्त किया गया; ठीक इसी कारण वे लोग जिनको अपनी चारित्रिक विशिष्टताओं के प्रति आदर का भाव है उन लोगों के प्रति विद्रोह का झंडा खड़ा करते हैं जो विचार के उन मृत ढांचों को जिनमें से सत्य का लोप हो गया है बचाने के प्रयत्न में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं।

जहां तक धर्म का सम्बन्ध है साक्षात्कारवाद ही ऐसा है जो परम्परा के कारण निरूपयोगी नहीं हो सकता और इसी कारण सभी पर भारी प्रभाव डाल सकता है क्योंकि केवल वही प्रतीक में (उसके) सत्य को सम्मिलित रखता है। यदि उसके साथ ही उसमें राज्य की राज–सत्ता और धार्मिक संस्था की नैतिक व बौद्धिक सत्ता भी मिल जावे तो इसी पृथ्वी पर 'धर्म प्रधान राज्य' की स्थापना हो सकती है। साक्षात्कारी ज्ञान की मशाल गुरू द्वारा शिष्य को मानो परम्परा के रूप में सौंप दी जायेगी और इस प्रकार उसे स्थायी रूप से प्रज्वलित रखा जा सकेगा। चर्म सत्ता और उसके प्रतीक को इतने निकट सम्पर्क में रखा जायेगा कि निरर्थक प्रतीकों के ही पीछे लगकर चरम सत्ता को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकेगा और न ही उनका प्रयोग अज्ञानियों द्वारा आंखें मूंद कर स्वीकार करने को बाध्य करने के लिए किया जायेगा। यदि वे प्रतीक किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित किये जावें जिसके पास अनुभव की वह सत्ता है जो यह बता सकती है कि उनके परे एक चरम सत्ता है और उस सत्ता के वे प्रतीक हैं तो उनका दुरुप्योग व उसके फलस्वरूप धर्म में विद्रोह कभी भी नहीं हो सकेगा।

प्रकृति का तत्त्व : 'प्रकृति ईश्वर की वेश–भूषा है, वह एक ऐसा दर्पण है जिसमें हम उसका (ईश्वर का) प्रतिबिम्ब या प्रतिमूर्त्ति देख सकते हैं' ऐसा तर्क दर्शन शास्त्र और काव्य शास्त्र ने बारम्बार प्रस्तुत किया है। इसी तर्क का विस्तार आगे यह कहकर किया जाता है कि प्रकृति स्वयं ही ईश्वर है, प्राकृतिक सौन्दर्य ही दैवी सौन्दर्य है और किसी स्त्री के मुख–सौन्दर्य की प्रशंसा करना ईश्वर के सौन्दर्य की ही प्रशंसा करना है। पहले पहल एक

प्रकार की धुंधली परन्तु हितकरी भावना प्रकृति के सौन्दर्य को देखने से उत्पन्न होती है और जैसा कि थॉलेस ने बताया है यह भावना एक ऐसी अपरिष्कृत सामग्री की तरह काम करती है जिसमें से ईश्वर में वह विश्वास जो हमारे सौन्दर्य–बोध की भावना को संतुष्ट कर सके उत्पन्न होता है। फिर यह विश्वास उस भावना से जिसमें से वह उत्पन्न होता है पृथक किया जाता है और एक दार्शनिक अथवा कवि के हाथों में पड़कर बौद्धिक रूप ग्रहण कर लेता है। परन्तु जैसा कि हम पहिले ही इस अध्याय में बता चुके हैं कि एक दार्शनिक का जो चाहे ईश्वरवादी ही क्यों न हो विश्वास अथवा एक कवि का विश्वास अपने आधार के लिए या अप्रमाणित कथन या केवल भावना का सहारा ही पा सकते हैं और तब यदि वह मानवता–आरोपण से अधिक कुछ नही रह जावे तो छिन्न–भिन्न होकर बिखर सकता है। विशेषकर एक कवि के लिए जो प्रकृति की विपुलता और सौन्दर्य से स्तम्भित हो जाता है इस भावना का बौद्धिक गठन और भी अधिक दूषित हो जाता है।

साक्षात्कारी अनुभव पर आधारित न होकर केवल काव्यात्मक भावुकता पर आधारित होने वाले इस प्रकार के धार्मिक विश्वास में जो खतरा अन्तर्निहित है उसको थॉलेस की पुस्तक 'धर्म के मनोविज्ञान की भूमिका' के तृतीय अध्याय में से एक अनुच्छेद उद्धृत कर स्पष्ट किया जा सकता है। 'शरीर और मन से स्वस्थ और आधारभूत नैतिक समस्याओं के भार से मुक्त एक अचिन्तनशील मनुष्य के लिए आशावादी दृष्टिकोण स्वाभाविक ही है। वह प्रकृति को ईश्वर के मुख के रूप में देखता है तो उसके लिए कोई द्वंद्व या संघर्ष उत्पन्न नहीं होता। परन्तु महात्मा बुद्ध के संवेदनशील ह्रदय के लिए जो जगत में फैले दुःख और क्रूरता से अत्यन्त पीड़ित हो चुका था अथवा संत पॉल के लिए जो अपने अन्दर व समस्त मनुष्य जाति में व्याप्त 'पाप' की अति तीव्र चेतना से व्यथित है, बात कुछ और हो जाती है। ऐसी मनोवृत्ति वाले लोगों के लिए प्रकृति अच्छी नहीं है। उनके लिए हम जिन अनुभवों का अर्थात् प्रकृति के साथ भय और प्रेम का घनिष्ठ वैयक्तिक सम्बन्ध रखने का वर्णन कर रहे हैं उनको और भी अधिक शक्तिशाली पीड़ा और अनिष्ट के संघर्ष से जूझना पड़ेगा।'

साक्षात्कारी पुरूष ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसमें इतनी शक्ति होती है कि वह यदि दार्शनिक चिन्तन करना चाहे तो अपने संक्षिप्त, निरंतर उपस्थित रहने वाले, लोकातीत ईश्वरीय अनुभव के आधार पर इन ऊपर से दिखायी देने वाले द्वंद्वों के परे जाकर अपने विश्वास का प्रतिपादन कर सकता है। सुंदर और कुरूप, मनोरंजक और भयावह इन दोनों ही प्रकार के प्रकृति के रूपों का सामंजस्य वह अपने साक्षात्कार पर आधारित विश्वास से कर सकता है क्योंकि साक्षात्कारी पुरूष साक्षात्कार में आने वाले 'सत्य' को इन दोनों रूपों में देखता है।

नैतिक तत्त्व : थॉलेस के अनुसार नैतिक संघर्ष के अनुभव का निष्पादन धार्मिक विश्वास को उत्पन्न करने में दो प्रकार से फलित होता है :– प्रथम, 'संघर्ष के दोनों पक्षों को वस्तुनिष्ठ रूप प्रदान करके' अर्थात् 'अच्छाई और बुराई को क्रमशः ईश्वर व शैतान का रूप देकर'

तथा दूसरा 'मनुष्य को अच्छा बनाये रखने की व्यावहारिक आवश्यकता के कारण, ईश्वर को नैतिक नियमों के नियंता व विश्व के शासनकर्त्ता के रूप में स्वीकार करके।'

इस प्रकार के धार्मिक विश्वास की कमजोरी प्रायः ईश्वर को बाह्य सत्ता मानने में बताई जाती है मानो आप्त सत्ता या बाध्यता में ही कुछ बुराई हो, परन्तु ऐसा है नहीं; इसकी कमजोरी तो नैतिक श्रेष्ठता और ईश्वर को एक मान लेने में है। निस्संदेह 'जेम्स' और 'को' जैसे प्रमुख मनोवैज्ञानिक धर्म में नैतिक तत्त्व को भारी महत्व प्रदान करते हैं। विशेष रूप से जेम्स ऐसे किसी धर्म की कल्पना करना भी अपने लिए कठिन मानता है जिसका आदर्श नैतिक नहीं हो। वास्तविकता तो यह है कि यदि धर्म नैतिकता की उपेक्षा करे तो फिर हमें धर्म की आवश्यकता ही क्या है? ईश्वर को नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता व स्वीकृति मानना निश्चित रूप से ही मन की स्वस्थ मनोवृत्तिका परिचायक है। परन्तु उन लोगों का क्या होगा जो असाधारण रूप से उत्कृष्ट नैतिक जीवन इसलिए बिताते हैं क्योंकि अपने अंतःकरण की संतुष्टि के लिए उनको उसकी आवश्यकता है अथवा वे उसे अपने सामाजिक समायोजन का एक आवश्यक भाग समझते हैं? उन लोगों के लिए जो ऐसे जन्मान्तर में विश्वास ही नहीं करते जिसमें दैवी हस्तक्षेप द्वारा संतुलन व समायोजन उपलब्ध होता है, परन्तु जो नैतिकता के लिए समस्त स्वीकृति व्यक्तिगत अथवा सामाजिक विवेक से तथा समाज के सदस्यों के पारस्परिक समायोजन से प्राप्त करते हैं, तब उनके लिए एक सतर्क एवम् न्यायपूर्ण ईश्वर अनावश्यक ही होगा यद्यपि मन के उस विश्वास को निरर्थक या हास्यास्पद नही कहा जा सकेगा। इस दृष्टिकोण से न तो धर्म में नैतिक तत्त्व होगा और न नैतिकता में धर्म का तत्त्व ही। ये दोनों विश्वास यदि विशुद्ध हों तो उनका अस्तित्व पृथक पृथक रखना पड़ेगा और यदि विशुद्ध नहीं हों तो दोनों का पतन भी पृथक पृथक ही होगा। अतएव यह सोचना कि धर्म और नैतिकता का एक दूसरे से पूर्ण सम्बन्ध–विच्छेद हो चुका है चिन्तन की दूसरी सीमा है।

मानव–हृदय पर अंकित नैतिक अनुशासन के प्रति छिपी गहरी आस्था से प्रेरित होकर ही कॉण्ट धर्म के नैतिक स्वरूप में विश्वास करने को बाध्य हुआ था। उसे लगा कि इस प्रकार के विश्वास का कारण सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक है, और इस प्रकार के अविचल विश्वास का ही परिणाम था कि कॉण्ट यह कह सका कि वह ऐसे किसी धार्मिक अनुभव की कल्पना तक नहीं कर सकता जिसमें नैतिक अनुभव का अभाव हो। और फिर भी जैसा क्लिमेण्ट सी.जे. बेबन ने बताया है स्वयं कॉण्ट में ही अन्तर्विरोध मिलता है : 'प्रकृति की उदात्ता और विदग्धता के प्रति स्वयं उसकी भावना में ही कुछ ऐसे अस्तित्व का भाव अन्तर्भूत है जो सुस्पष्ट रीति से नैतिकता से भिन्न है।'[9]

कॉण्ट पर तार्किक व्याघात का आरोप लगाया जाता है, परन्तु नैतिकता के व्यावहारिकता विश्वास होने के कारण वह इसके अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता

[9] Kant's Philosophy of Religion, p.205

था। नैतिक नियमों के और धर्म के स्वरूप में उसकी जो यह व्यावहारिक अन्तर्दृष्टी थी उसी ने स्वयं उसे और समस्त जगत को संदेहवाद और शून्यवाद से बचाया था। साक्षात्कारी दृष्टिकोण से कॉण्ट की यह भूल और भी अधिक उचित समझी जायेगी। नैतिक उत्कृष्टता ईश्वर के स्वरूप का एक अंश मात्र है। उदाहरण के लिए शक्ति, प्रज्ञा, क्रोध और सौन्दर्य इत्यादि कुछ ऐसे गुण हैं जो नैतिक मूल्यों की सीमा से परे जाते हैं। यहां तक कि एक अच्छे आदमी की अच्छाई भी ईश्वर की अच्छाई का अल्पाति अल्प भाग है। रामदास पूछते हैं : 'क्या माता के प्रेम की तुलना ईश्वर के प्रेम से की जा सकती है? (और स्वयं ही उत्तर देते हुए कहते हैं कि) कठिन समय आ पड़ने पर माता अपनी सन्तान की हत्या तक कर सकती है, परन्तु ईश्वर अपने भक्त के साथ कभी ऐसा नही करेगा।'[१] साक्षात्कारी 'सत्य' को सर्वोत्कृष्ट 'शिवम्' के रूप में अनुभव करना ही एक ऐसा आधार हो सकता है जिस पर नैतिक विश्वास का औचित्य सिद्ध होगा।

हमें इस प्रश्न पर दूसरे रूप में विचार करना चाहिए। नैतिक चेतना में 'पाप–भावना के प्रति सजगता' निश्चित रूप से अर्न्तभूत रहती है और वास्तव में एक सीमा तक पापी होने की अथवा पापी हो सकने की संभावना की चेतना का भारी नैतिक मूल्य है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से पाप का अतिशय भय उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैसा थॉलस ने बताया है 'इसका झुकाव मन में अस्वस्थ और कुण्ठित वृत्ति उत्पन्न करने की ओर रहता है जो अच्छाई का प्रेरक बनने में असमर्थ है।' इससे 'प्रतिगामी प्रयत्न का नियम' काम करना शुरू कर देता है और फलस्वरूप निदान स्वयं ही एक रोग या बाधा बन जाता है, अथवा वह विचार या योजना जिसके प्रति हमारे मन में ललक है या जिसे हम क्रियान्वित करना चाहते हैं उसके ही विरूद्ध संवेगात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाने के कारण अपने आपको ही पराजित या समाप्त कर देता है। थॉलस कहते हैं कि अत्यधिक ऊंचाई पर जाने के बाद यह विचार मात्र कि 'मैं गिर सकता हूं' और तदनुसार अपने आपको बचाने के लिए किए गए प्रयत्न मेरे गिरने की संभावना को और अधिक निकट ला देते हैं।[२] इसी प्रकार पाप की अत्यन्त तीव्र चेतना एक व्यक्ति को पाप–मुक्त नही करती, जैसा कि संभवतया बुनियन के साथ हुआ था।

पाप की यह अनावश्यक और अतिशय तीव्र भावना ईश्वर व ईश्वर–तुल्य पुरुषों की कृपा और उनकी शक्ति में विश्वास की कमी का संकेत करती है। जिस सीमा तक पाप की यह अतिशय चेतना हमारी नैतिक चेतना का अंग बन जाती है उसी अंश तक हमारा धार्मिक विश्वास गुणात्मक दृष्टि से कम हो जाता है। धार्मिक विश्वास में अप्रकट रूप से उपस्थित इस नैतिक तत्त्व के खतरे को दूर करने के लिए ही भगवान श्रीकृष्ण हमें आश्वासन देते हैं कि 'घोर पापी भी यदि मेरा ध्यान करने लग जाता है तो उसे सज्जन ही

---

[१] Dasabodha, IV-8, 24-25

[२] Introduction to Psychology of Religion, Ch. IV

समझना चाहिए क्योंकि वह (सही) मार्ग पर आ गया है।' 'मेरे आगे समर्पण कर दो; मैं तुम्हें तुम्हारे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा।'[३] संतों ने भी बारम्बार कहा है कि ध्यान की शक्ति से पापों के पहाड़ (सम पुंज) भी जलकर भस्मसात हो जाते हैं। ईश्वर का ध्यान और उसके फलस्वरूप होने वाली ईश्वर की कृपा पापों के लिए प्रायश्चित करने की आवश्यकता को समाप्त कर देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रायश्चित को नैतिक चेतना का एक आवश्यक और उपयोगी अंग नहीं समझना चाहिए; इसका तो इतना ही अर्थ है कि प्रायश्चित धार्मिक चेतना का एक मात्र संकेत नहीं है। ध्यान के अभाव में अत्यधिक प्रायश्चित भी कमजोरी और ईश्वर में विश्वास की कमी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

भावना का तत्व : निस्संदेह धार्मिक अनुभव और धार्मिक विश्वास का एक भावनात्मक पक्ष भी होता है। इन संवेगों और स्थायी भावों के दो रूप देखने को मिलते हैं – एक तो वे जो अनुभव के साथ साथ अथवा अनुभव के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होते हैं, तथा दूसरे वे जो केवल पारम्परिक धार्मिक कृत्यों व पूजा विधानों के कारण उत्पन्न होते हैं। परन्तु उनके अनुरूप अनुभव के तथ्यों की ओर संकेत नहीं करते। इन दोनों रूपों में भेद करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए घुटने टेक कर प्रार्थना करने का प्रभाव संवेगों पर पड़ता ही है। यह समर्पण का बाह्य प्रतीक मात्र नहीं है, परन्तु जैसे थॉलस ने बताया है 'वह वास्तव में समर्पण की भावनात्मक मनोवृत्ति उत्पन्न करता है।'[९] सामाजिक प्रयोजनों की दृष्टि से संवेगों को इस प्रकार के कृत्यों से तीव्र बनाना चाहे कितना ही उपयोगी क्यों न हो, स्वयं धार्मिक व्यक्ति के जीवन में वे 'वस्तु' की उपस्थिति के बिना ही (उत्पन्न) होते हैं। उस दशा में इस बात की पर्याप्त संभावना रहती है कि वह कोरी भावुकता बन कर रह जाये और उससे किसी कार्य की प्रवृत्ति न हो। विलियम जेम्स द्वारा दी गई रूसी महिला की कहानी इस प्रकार की भावुकता का एक विशिष्ठ उदाहरण है। रंगमंच पर कल्पित लोगों के (कल्पित) कष्टों पर वह रोती थी जबकि स्वयं उसका कोचवान बाहर बरामदे में ठण्ड से ठिठुरते हुए मर रहा था। उसके लिए दुःख का वह भाव भी मन को आनंद प्रदान करने वाला था; उसने उसे किसी तरह झकझोर कर कार्य–प्रवृत्त नहीं किया।

इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में उदित भाव मुख्य रूप से धर्म के क्षेत्र में ही उपयोगी होने चाहिए न कि किसी अन्य क्षेत्र में। घुटने टेकने की क्रिया से यदि हमें ईश्वर को जानने में सफलता मिलती है और उससे उनके सामने नम्र बना जा सकता है तो उस क्रिया द्वारा हमारे एक विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि होती है; यदि उससे ईश्वर को जाने बिना केवल समाज की ही सेवा होती है तो उसे धार्मिक कृत्य कहने का कोई अर्थ नहीं। इसके विपरीत यदि एक संत ईश्वर के सम्मुख साष्टांग दंडवत इसलिए करता है कि सौभाग्य से उसे उनकी महत्ता की झलक प्राप्त हो चुकी है तो उसे भी इस क्रिया द्वारा अपनी नम्रता

---

[३] Bhagavadgita, IX, 30; XVIII, 66

[९] Introduction to Psychology of Religion, Ch. V

की मनोवृत्ति में तीव्रता की अनुभूति होगी, परन्तु उसके लिए उस संवेगात्मक शक्ति का शीघ्र ही तितर–बितर होकर निःशेष हो जाने का भय नहीं रहेगा। उसकी भक्ति का स्थायी आराध्य ईश्वर होने के कारण उसके भाव उतने ही दृढ और तीव्र होंगे तथा उनका उपयोग स्थायी रूप से तथा लाभप्रद ढंग से आध्यात्मिक व सामाजिक कल्याण के लिए किया जा सकेगा। उसके लिए ईश्वरानुभूति वह चाहे कितनी ही अल्प क्यों न हो, एक केन्द्र–बिन्दु का काम करेगी जिसके चारों ओर संवेग शनैः शनैः अपने आपको संगठित करते जायेंगे और इस प्रकार स्थायी भावों का तथा चरित्र का निर्माण करेंगे। ऐसे प्रत्यक्ष केन्द्र–बिन्दु के अभाव में प्रत्येक संवेग पृथक पृथक रूप से जीवित रहेगा तथा कालान्तर में तितर–बितर होकर निःशेष हो जायेगा।

ईश्वर की उपस्थिति का भाव–मात्र जिसको लेकर पाश्चात्य साहित्य में इतना कुछ लिखा गया है, निस्संदेह उस व्यक्ति के लिए जिसमें ऐसी उपस्थिति का भाव उदय होता है विश्रान्ति व आनंद का स्रोत होता है। परन्तु एक भावना का भान दूसरी भावना का आधार कब तक बना रह सकता है? यदि हम उनके स्थायित्व को बनाये रखना चाहते हैं तो उन दोनों अर्थात् ईश्वर की उपस्थिति के भाव को व विश्रान्ति तथा आनंद के भाव को अनुभव के किसी प्रत्यक्ष व स्थायी तथ्य पर आधारित करना चाहिए। यदि ईश्वर का साक्षात दर्शन नहीं होता है तो उसकी उपस्थिति का भान चाहे कितना ही शक्तिशाली और दुर्निवार और चाहे कितना ही हितकारी व आनंद प्रदान करने वाला क्यों न हो उसका अन्त सस्ती धार्मिक भावुकता में ही होकर रहेगा जो क्रिया अथवा विचार को उत्तेजना प्रदान करने का कार्य नहीं कर सकेगा।

बुद्धि का तत्त्व : मानव–ज्ञान के समस्त विभागों में तर्क का कार्य इतना स्पष्ट है कि यह कहना भी एक प्रकार से अनावश्यक ही होगा कि बुद्धि का धार्मिक विश्वास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्त्तमान मनोविज्ञान की प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि हमारे विश्वास बुद्धि से निश्चित होने से कहीं अधिक विवेकहीन शक्तियों से निर्धारित होते हैं। हमारी भावनाएं, इच्छाएं, और संवेग तथा साथ ही अनेक अचेतन इच्छाएं व आवेग जो कुछ हम विश्वास करते हैं उनके लिए उत्तरदायी हैं। निस्संदेह इस कथन में कुछ सत्य है। पर फिर भी इस कथन से बुद्धि के कार्यों का महत्व घटता नहीं अर्थात् हमारे विश्वासों के औचित्य को निर्धारित करना और उसके लिए प्रमाणों को जुटाना व उनका प्रतिपादन करना जो बुद्धि के कार्य हैं महत्वपूर्ण ही रहते हैं। हमारे विश्वासों की उत्पत्ति भले ही विवेकहीन शक्तियों से हो, परन्तु उनको औचित्य–प्रदर्शन व अनुरक्षण तथा साथ ही उनके विरोधी विश्वास अथवा अविश्वासों के खंडन का कार्य बुद्धि ही करती है। कहा जा सकता है कि जिसके विश्वासों की आधार–भूमि अनुभव है उसको अपने विश्वासों को प्रमाणित करने के लिए बुद्धि की आवश्यकता नहीं होगी। फिर भी, जब तक सामाजिक आदान–प्रदान चलता है, तर्क की आवश्यकता होती ही है और जब तक पुस्तकें लिखी

जाती है और भाषण दिये जाते हैं बुद्धि बिना किसी चुनौती के महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती रहेगी।

परन्तु जो लोग अति करते हैं, बुद्धि को अत्यन्त महत्व देते हैं, और कहते हैं कि बुद्धि ही कार्य–सिद्धि के लिए पर्याप्त है व बौद्धिक ढंग के धर्म में विश्वास करते हैं वे जैसा कि थॉलस कहता है 'शैतान से भी अधिक बुरी स्थिति में है।' संत जेम्स के शब्दों में ऐसे लोग 'विश्वास करते हैं और कांपते हैं।'[१] केवल बौद्धिक रूप से विश्वास करने वाला व्यक्ति वास्तव में अपने विश्वास के प्रति उदासीन है।

(४)

ऐन्द्रिय से पारमार्थिक

(१) **प्रेरणा के स्रोत और रूपान्तरण के प्रकार** : पिछले अध्याय के विवेचन में हमें यह निश्चित रूप से बता दिया गया है कि ईश्वर में सच्चा व स्थायी विश्वास अन्ततोगत्वा ईश्वरानुभूति की आधार–शिला पर ही स्थित होता है; और किसी प्रकार का विश्वास, जो चाहे प्राकृतिक सौन्दर्य के बोध से उत्पन्न हुआ हो अथवा कॉण्ट की 'सद्च्छा' से या तर्कों के माध्यम से या फिर परम्परागत शिक्षण से उदभूत हो अधिक से अधिक उस समय तक और वह भी उपयोगितावादी दृष्टिकोण से तब तक महत्त्वपूर्ण अर्थात मूल्यावाद हो सकता हे जब तक वह 'कार्य' करता है (अर्थात् उपयोगी सिद्ध होता है) अर्थात् उस विश्वास के कारण एक ऐसे सामाजिक ढांचे की संरचना हो सके जिसका शासन व पर्यवेक्षण एक सर्वज्ञ, नैतिक प्राणी द्वारा होता हो। अन्तर्दृष्टि प्रदत्त ज्ञान पर आधारित ईश्वर में विश्वास तो बहुत थोड़े से लोगों को प्राप्त हो, अन्य असंख्यों लोगों का विश्वास तो कुछ ऐसे संयोगों से बनता है जिसका उपयोग तो है परन्तु जिसके लिए वे यह नहीं कह सकते कि उनके विश्वास के अनुरूप कोई 'तथ्यात्मक सत्य' का अस्तित्त्व भी है या नहीं। ऐसी दशा में सामान्य लोग ईश्वर में सही ढंग से विश्वास कर सकें इसका क्या उपाय है?

प्रायः यह कहा जाता है कि ईश्वर को जानने के लिए उसमें आस्था होनी चाहिए। आस्था विश्वास का ही दूसरा नाम है। अतः यह कहना कि ईश्वरानुभूति आस्था पर आधारित होती है और सच्ची आस्था (या विश्वास) ईश्वरानुभूति से उत्पन्न होती है वृत्ताकार रूप से तर्क करना है। यह सच है कि जब तक एक आदमी तैरना नहीं जानता, वह पानी में नहीं उतर सकता, और पानी में उतरे बिना उसके लिए तैरना असम्भव है। और फिर भी यह अधिक सच है कि यदि एक व्यक्ति वास्तव में ही तैरना चाहता है तो उसे सचमुच पानी में उतरकर तर्क की इस सैद्धान्तिक कठिनाई पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इसी प्रकार जो ईश्वर को जानना चाहता है उसे ईश्वर में प्रारम्भिक रूप से आस्था रख कहीं न कहीं

[१] Introduction to Psychology of Religion, Ch-VI.

से श्रीगणेश करना ही चाहिए। यदि ये प्रारम्भिक चरण अन्धविश्वास के कारण भी हों तो भी कोई बात नहीं। जैसे विज्ञान का विद्यार्थी एक परिकल्पना को इसलिए स्वीकार करता है ताकि वह उसे प्रमाणित अथवा अप्रमाणित कर सके वैसे ही उस व्यक्ति को भी इस विश्वास को अस्थायी रूप से, प्रायोगिक दृष्टि से अपना लेना चाहिए।

यह प्रारम्भिक अस्थायी आस्था ही वह पुल है जो ऐन्द्रिय जीवन को पारमार्थिक जीवन से जोड़ता है; यह जीवन को नया मोड़ देने वाला बिन्दु है और धार्मिक रूपान्तरण का मूल है। अतएव हमारे वर्त्तमान विवेचन के विषय होंगे वे अनेक ढंग जिनसे आस्था उत्पन्न होती है और रूपान्तरण की क्रिया सम्पन्न होती है, 'आत्मा की काली अमा' के पश्चात प्रारम्भ होने वाले इस नवीन जीवन का स्वरूप, तथा गुरू से भेंट तथा उनके द्वारा संकेतित 'पारमार्थिक दहलीज' का अर्थ।

सर्व प्रथम तो हमें यह जानना चाहिए कि पारमार्थिक जीवन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया ही क्यों जाता है? वे कौन से प्रयोजन हैं जो एक व्यक्ति को इस जीवन की ओर उन्मुख करते हैं? मरणोपरान्त ऐसे परलोक की आशा जिसमें समस्त बहुमूल्य और सुन्दर वस्तुओं का समावेश हो पारमार्थिक जीवन का प्रेरक नहीं कही जा सकती वह तो अभी हम जिसका भोग कर रहे हैं उसी ऐन्द्रिय जीवन का अधिक उन्नत और समृद्ध रूप में विस्तार मात्र है। पारमार्थिक जीवन से हमारा तात्पर्य उस प्रकार के जीवन से है जो स्वयं ईश्वर या आत्मन् का जीवन है। तब हमारे सम्मुख प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एक व्यक्ति ऐन्द्रिय जीवन से विरत होकर ईश्वर को जानने की इच्छा मन में क्यों लाता है? सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि एक विचारशील व्यक्ति के लिए ऐन्द्रिय जीवन अपूर्ण और असंतोषजनक प्रमाणित होता है और इसी कारण उसके हृदय में शान्त और सुखी जीवन के लिए एक स्वाभाविक लालसा रहती है। इसी का विस्तार से विवेचन करने पर पता लगता है कि इस दिव्य जीवन के लिए पिपासा उत्पन्न होने के विभिन्न कारण हैं, कई ऐसी घटनाएं व अवसर आते हैं जिनमें से किसी एक या दूसरे के कारण एक व्यक्ति संयोगवशात् ऐन्द्रियता के भंवर से बाहिर फेंका जाकर पारमार्थिक जीवन की उपच्छाया में आ गिरता है और तत्पश्चात जैसे उसके प्रयत्न होते हैं उनके ही अनुसार वह उसके केन्द्र अर्थात् ईश्वर से, सीधा और प्रत्यक्ष साक्षात्कार प्राप्त करने की ओर अधिकाधिक खिंचता चला जाता है।

(१) सर्व प्रथम संवेगाात्मक पक्ष के अधिक प्रभावशाली व तात्कालिक कारणों में देह–सुख के अतिशय आवेगपूर्ण भोग से उत्पन्न प्रतिक्रिया ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण प्रतीत होता है। एक मनुष्य के लिए देह–सुख–भोग की क्षमता की भी एक सीमा होती है। देह और इन्द्रियें निशक्त और परिश्रान्त हो जाती हैं और यद्यपि इच्छाओं की संख्या और तीव्रता में वृद्धि हो जाती है, उनको पूर्ण कर संतोष प्राप्त करना शारीरिक दृष्टि से असंभव हो जाता है। भोग की अति जितनी ही अधिक होगी, प्रतिक्रिया भी उतनी ही शीघ्रता से होगी। जब

देह आवश्यक सुखोपभोग उपलब्ध करने में असमर्थ हो जायेगी तब उसके प्रति घृणा और विरक्ति का भाव उदय हो सकता है और तब रिक्त मन या तो बौद्धिक या पारमार्थिक कार्य में व्यस्त होने लगेगा।

(२) वृद्धावस्था व रोगों के कारण उत्पन्न वास्तविक शारीरिक पीड़ा का भोग, मित्रों, साथियों, सहयोगियों तथा ऐसे लोगो का जो अत्यन्त प्रिय है वियोग, नाना प्रकार की भयंकर विपत्तियें और असमंजसपूर्ण समस्याएं और उनको दूर करने में स्वयं सर्वथा असमर्थ होने की भावना आदि ये सभी पारमार्थिक जीवन के प्रति उन्मुख करने के लिए शक्तिशाली संवेगात्मक प्रेरक है।

(३) अपने द्वारा किये गये पापों की चेतना और उसके फलस्वरूप उत्पन्न पश्चाताप का भाव कई बार एक व्यक्ति में अपने विगत जीवन के प्रति विद्रोह उत्पन्न कर नवीन प्रकार से जीवन–यापन करने की तीव्र लालसा जागृत कर देते हैं। उसके साथ–साथ ही पश्चाताप करने वाला (जीव) एक ऐसे उद्धारकर्त्ता में विश्वास करने लगता है जो उसके पापों को धोकर शान्ति, प्रेम और आत्मविश्वास के एक नवीन आश्रय–स्थान की ओर ले जाने के लिए मार्ग–दर्शन कर सकता है।

(४) जीवन में जब प्रेम, पद, प्रतिष्ठा, और सम्पत्ति आदि क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से निराशा और विफलता मिलती है; संसार के लोगों द्वारा जान–बूझकर की गई दुष्टता और कृतघ्नता की अनुभूति होती है; मित्रों व सम्बन्धियों का अकारण ही मुंह मोड़ लेने से; या जब दुर्बल पौरूषहीन और अयोग्य व्यक्तियों के सिर सभी प्रकार से सफलता का सेहरा बंधता है और उससे प्रकट होने वाली विषमता का ज्ञान होता है तब एक व्यक्ति को उसके न चाहते हुए भी इन्हीं कारणों से भाग्यवादी और निराशावादी बनना पड़ता है। वह भाग्य में या ऐसी शक्ति में विश्वास करने लगता है जो उसकी (सामर्थ्य से) परे है। उसको अनुभव होने लगता है कि केवल कुछ थोड़े से सफलता प्राप्त व्यक्तियों की जो चाहे सफलता के अधिकारी हों अथवा नहीं, बात सुनी जाना पर्याप्त नहीं है, बल्कि अधिकांश ऐसे लोगों की भी बात सुनी जानी चाहिए जो सुपात्र होते हुए भी असफलता और दुःख के शिकार हैं। यह उनका अधिकार है। यदि ज्ञानेश्वर, तुकाराम, सुकरात और ईसा मसीह जैसे धर्मपरायण और सज्जन लोगों के उत्पीडन और उन पर होने वाली विपत्तियों की वर्षा पर विचार करें तो संसार का अन्याय एक पहेली की तरह प्रतीत होगा जिसका समाधान किसी ऐसे पारमार्थिक जगत में आस्था रखने से ही होगा कि जहां जाकर इसमें संतुलन स्थापित किया जा सकेगा। अनिष्ट और अन्याय मानो वह मूल्य है जो आने वाली पारमार्थिक फसल के लिए हमें पहले ही चुका देना पड़ता है। निराशा और सफलता की यह चित्कार जहां तक इस जगत में होने वाले लाभ का प्रश्न है अरण्यरोदन ही रहती है, परन्तु फिर भी कभी कभी वह पारमार्थिक जीवन में आस्था उत्पन्न कर देती है और इसी कारण निरुद्देश्य नहीं है।

(५) आहत अभिमान, दबाया हुआ दंभ और उद्धतता भी एक व्यक्ति के जीवन में मोड़ लाने वाले प्रमाणित हो सकते हैं। इस प्रकार ही रामेश्वर भट्ट तुकाराम के शिष्य बने थे और वामन पण्डित पारमार्थिक जीवन के महत्त्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए थे। ऐसे उदाहरणों में इच्छा–शक्ति और संवेग का एक विचित्र मिश्रण होता है; जब इच्छा–शक्ति कुण्ठित हो जाती है और संवेगात्मक प्रतिक्रिया होना भी बंद हो जाता है तब जीव इस प्रकार संबंध–भंग उपस्थित करने वाले नवीन विचारों, संवेगों और प्रस्तुतियों के प्रवाह को ग्रहण करने का एक निश्चेष्ट पात्र बन जाता है। तुलसीदास अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त थे। कहा जाता है कि सांप को भ्रम से रस्सी समझकर उसके सहारे अपनी पत्नी के कमरे में चढ गये थे। परन्तु जो डांट–फटकार उन्हें अपनी पत्नी से सुननी पड़ी उसने, उन्हें ईश्वर–भक्त बना दिया। नामदेव उस विधवा के दुःख को देखकर पिघल गये जिसके पति की हत्या स्वयं उन्होंने की थी। करूणा के भाव ने उनके यात्रियों को लूट लेने की आदत को धों पोंछकर साफ कर दिया और उसके स्थान पर उनके हृदय में नवीन वस्तु, अर्थात ईश्वर, को ला बिठाया। संत पॉल ने ईसाइयों को दुःख देना छोड़ दिया और ईसा मसीह के संदेश का प्रसार करने में अपने आपको नियुक्त कर दिया क्योंकि दुःख देने के प्रति उनमें जो उत्साह था उसका अन्त दमासकस जाने वाले सड़क पर देखे गये 'रूप' द्वारा समाप्त कर दिया गया। घृणा का स्थान प्रेम ने ले लिया और दुःख देने की क्रियाओं का स्थान संरक्षण करने की क्रियाओं ने। इन सभी उदाहरणों में उत्साह, उमंग, और इच्छा–शक्ति यथावत बनी रहती है यद्यपि संवेग और जिसके प्रति संवेग उन्मुख है वह विषय भी परिवर्तित हो जाते हैं।

(६) बौद्धिक स्तर पर भी रूपान्तरण निम्नलिखित ढंग से सम्भव है। एक विवेकी पुरूष के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह स्वयं संवेगात्मक धक्के से उत्पन्न दुःख से व्यथित हो अथवा दैन्यावस्था को प्राप्त हो और फिर उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया करे। उसको तो यदि दुःख–दैन्य, अन्याय और दुष्टता की वास्तविकता का सही सही और सहानुभूतिपूर्ण बोध ही हो जाय तो उसके लिए वही पर्याप्त होगा। एक विचारशील और संवेदनशील व्यक्ति अपने कल्पना के प्रवाह से और विचार की शक्ति के सहारे से उस व्यक्ति से, कहीं अधिक कार्य कर सकता है जिसमें कल्पना–शक्ति का अभाव हो और अति अल्प विचार शक्ति हो। जगत में फैले दुःख–दैन्य का ठीक ठीक रूप वह अपनी शक्तिशाली कल्पना के सहारे मन ही मन चित्रित कर देख सकता है, इतना ही नहीं पूर्णतया संवेदनशील होने के कारण वह, चाहे अपार सम्पत्ति से ही क्यों न घिरा हो, उस दुःख को अनुभव करता है और वैसा जीवन (कल्पना द्वारा) भोगता है। महात्मा बुद्ध ने कहा है 'सर्वम् दुःखम् विवेकिन' एक विवेकशील व्यक्ति के लिए दूसरों के दुःखों का विचार तक भी वास्तविक दुःख की ही तरह (दुःखदायी) होता है। इसी कारण एक शव का दर्शन मात्र गौतम के लिए सभी दुःखों का व इस क्षणभंगुर, भ्रान्तिपूर्ण संसार (की क्षण भंगुरता व भ्रान्ति का) निचोड़ सा बन गया। इस संसार की क्षण भंगुरता और भ्रामकता स्पिनोजा की दृष्टि में इतनी स्पष्ट हो गई थी कि

उन्हें यह विश्वास हो गया था कि ईश्वर ही एक ऐसा तत्त्व है जो एक साथ बुद्धि, इच्छा–शक्ति और हृदय को संतोष प्रदान कर सकता है। बुद्धि–प्रधान साक्षात्कारी संतों के सम्राट रामदास जब यह कहते हैं कि वही व्यक्ति पारमार्थिक जीवन का अधिकारी कहा जा सकता है जो सभी प्रकार के दुःखों से पीड़ित हो चुका है तब उनका तात्पर्य यह नहीं है कि उसे वास्तव में ही दुःखों की ज्वाला में जलना चाहिए बल्कि यह है कि पारमार्थिक जीवन की दहलीज तक को पार करने की आशा करने से पूर्व उसे उन दुःखों के विचार मा्त्र से ही पीड़ा होनी चाहिए। शंकराचार्य के इस कथन में कि 'जिस दिन एक व्यक्ति इस संसार से थक जावे उसी दिन उसे संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए' इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। संक्षेप में, शक्तिशाली व न रोकी जा सकने वाली (अप्रतिरोध्य) बौद्धिक सहानुभूति भी पारमार्थिक जीवन के प्रति लालसा उत्पन्न करने के लिए उतनी ही शक्तिशाली होती है जितनी कि संवेगात्मक संकटावस्था अथवा शारीरिक पीड़ा, य़द्यपि यह सही है कि वास्तविक दुःख भोग उस लालसा में कुछ अधिक तीव्रता ला देता है।

(७) यदि सज्जन ओर धर्मपरायण लोगों से आकस्मिक और भाग्यवशात सम्पर्क हो जाये तो कभी कभी यह भेंट भी जीवन में एक सर्वथा नवीन मोड़ लाकर उस नवीन जीवन के प्रति रुचि उत्पन्न कर देती है। यदि उसका व्यक्तित्व शक्तिशाली हुआ तो नवीन जीवन के प्रति जागृत यह रुचि प्रायः स्थायी हो जाती है। अपने गुरु के अनुकरण में किये गये सद्कार्यों ओर धर्माचरणों मात्र से यह रुचि आस्था में विकसित हो जाती है और तब ऐसा होता है कि स्वयं गुरु ही उस जिज्ञासु जीव को शनैः शनैः ईश्वर के मार्ग पर लगा देता है।

(८) अन्त में, पूजा और शुद्धिकरण की पारम्परिक विधियें ऐसे अन्य साधन हैं जो एक व्यक्ति को ईश्वर को जानने के सही मार्ग का बोध प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती हैं। जैसे उसके पूर्वज किया करते थे उसी प्रकार उसे भी ईश्वर की प्रतिमा की पूजा करने दो, अपने शुद्धिकरण के लिए पुण्य जल में स्नान करने दो और अन्य प्रकार से तपस्या भी करने दो : जो आस्था उसे सगुण भक्ति–ईश्वर के सगुण रूप की उपासना करने में दृढ़ रखती है, समय पाकर वही उसे पारमार्थिक जीवन का जो सार है उस निर्गुण भक्ति का अर्थात् ईश्वर के निर्गुण रूप की पूजा का मूल्य पहिचानने में समर्थ बना देगी। चाहे भक्ति सकाम ही क्यों न हो, किसी भौतिक लाभ की दृष्टि से ही क्यों न की जाती हो, एक दिन अकस्मात् वह निष्काम भक्ति के रूप में परिपक्व हो जाएगी जिसका उद्देश्य ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त करना है। दुःखी मनुष्य द्वारा भक्ति अपने दुःख और दैन्य पर विजय प्राप्त करने के लिए क्यों न की गई हो इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि दुःखों के दूर हो जाने पर वही भक्ति ईश्वर प्राप्ति के उद्देश्य की ओर उन्मुख हो जाएगी। या फिर जो भक्ति बौद्धिक आस्था अर्थात् पारमार्थिक जीवन के अर्थ व स्वरूप की जाँच की दृष्टि से ही क्यों न की जाती हो, वह भी ऐसी भक्ति में परिवर्तित हो जायेगी जो अन्तर्दृष्टि, ध्यान और समर्पण से विभूषित होती है। एक व्यक्ति थोड़ा थोड़ा करके और शनैः शनैः ही बुद्धि की सीमाओं को और मात्र मूर्तिपूजा की तथा नाना प्रकार की ईश्वर

विहीन तपश्चर्या की निरुपयोगिता को जान सकेगा; इच्छाओं को कम से कम कर सकेगा, ईश्वर की सहायता से अपने दु:खों को अधिकाधिक कम करना सीख सकेगा तथा शारीरिक कष्टों के प्रति उपेक्षा के भाव का विकास कर अन्त में ईश्वर को जान सकेगा। संक्षेप में, एक व्यक्ति को किसी प्रकार किसी भी एक या अन्य कारणों से, पारमार्थिक जीवन प्राप्त करने के लिए तत्पर होने दो, यदि उसके प्रयत्नों में सच्चाई है तो वह आवश्यक रूप से पारमार्थिक जीवन के द्वार तक पहुँच ही जायेगा फिर चाहे वह प्रारम्भ ईश्वर के प्रति संदेह व घृणा से अथवा ईश्वर व उसके भक्तों को पीड़ित करने से ही क्यों न हो।

अब तक हमने उन कारणों का विवेचन किया है जो मुख्य रूप से ऐन्द्रिय जीवन में अत्यन्त गहराई तक निमग्न लोगों की वृत्ति में परिवर्तन लाते हैं। जीवन के प्रति दृष्टिकोण में यह परिवर्तन जीवन की धारा में ही होने वाले एक अन्य परिवर्तन से पहले ही होना आवश्यक है। अतः पारमार्थिक जीवन का प्रारम्भ हो गया है ऐसा कह सकने के पूर्व दो प्रकार से रूपान्तरण आवश्यक है – प्रारम्भिक रूपान्तरण जो एक व्यक्ति का मुख एक प्रकार के जीवन से मोड़कर दूसरे प्रकार के जीवन की ओर कर देता है अर्थात् केवल वृत्ति में परिवर्तन कर देता है; परन्तु दूसरा जो वास्तविक रूपान्तरण है केवल वृत्ति में ही परिवर्तन नहीं करता स्वयं व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही परिवर्तन ला देता है। प्रथम रूपान्तरण आगे आने वाली संभावना में, विश्व के प्रति दृष्टिकोण में, मानसिक साज–सज्जा में और बौद्धिक दृष्टिकोण में ही परिवर्तन लाता है, परन्तु दूसरा वास्तविक जीवन–विधि और कार्य–प्रणाली में, उस व्यक्ति के नैतिक और पारमार्थिक अस्तित्व में भी परिवर्तन ला देता है। हमने अब तक प्रथम रूपान्तरण के कारणों का विवेचन किया है और इसलिए अब उसकी प्रकृति का संक्षिप्त विवरण देना उचित होगा।

बद्ध (बन्धनग्रस्त) की अवस्था में मुमुक्षु (मुक्ति का इच्छुक) की अवस्था तक परिगमन प्रथम रूपान्तरण, वृत्ति अथवा जीवन के प्रति दृष्टिकोण का परिवर्तन है। बद्ध वह है जिसे आत्मन् विषयक कोई ज्ञान तो नहीं ही है उसे तो उन लोगों के प्रति कोई आदर का भाव भी नही है जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है। इसके विपरीत उसके मन में सज्जन और धर्मपरायण लोगों के लिए निश्चित रूप से अनादर का भाव रहता है और उनकी निन्दा करने में उसे आनन्द आता है। जो स्वयं पापी और विलासप्रिय है तथा जो कुछ भी वीभत्स और दुष्टतापूर्ण है उन सब दुर्गुणों का मन, वचन और कर्म से वह भंडार ही होता है, उसे ईश्वर भक्तों की ओर देखना भी असहनीय लगता है। वह उनकी निंदा करता है, दूसरों को उनका अनुयायी बनने से रोकता है, और ऐन्द्रिय सुख में इतना अधिक लिप्त रहता है कि उसकी दृष्टि में संपत्ति और सुन्दरी ये दो ही वस्तुयें ऐसी उत्कृष्ट हैं जो जीवन में प्राप्त करने योग्य हैं। संपत्ति और सुन्दरी केवल ये ही दो उसके चिंतन की सामग्री बनते हैं जिनको प्राप्त करने के लिए वह जीवन का प्रत्येक क्षण और अपने शरीर व इन्द्रियों की एकाग्रित समस्त शक्ति लगा देता है। अपनी वासनाओं के वेग में वह इतना मदमस्त हो जाता है कि वह संचित होने वाले पापों की ओर से भी आँखें मूँद लेता है और यह भी भूल जाता है कि वृद्धावस्था में उसका शरीर शिथिल हो जायेगा और उसे मृत्यु का ग्रास बनना

पड़ेगा। एक शब्द में यह कह सकते हैं कि वह अपने शरीर की महत्ता या चिन्ता से तथा जीवन के सुखपरक ऐन्द्रिय मूल्यों से आगे जाता ही नहीं।

परन्तु समय के साथ ऊपर बताई गई विधियों में से किसी भी एक के अनुसार प्रतिक्रिया हो सकती है। तब बद्ध के मानसिक और बौद्धिक दृष्टिकोण में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है और उससे वह जहां तक जीवन के प्रति दृष्टिकोण का सम्बन्ध है एक नए ही व्यक्ति के रूप में उभर कर बाहर आता है जिसे अब हम मुमुक्षु की संज्ञा दे सकते हैं। वह अन्धकारपूर्ण और दुःस्वप्न के समान अपने अतीत की स्मृति से संत्रस्त होकर भय से आप्लावित हो जाता है और अपने दुःखद और अनिश्चित भविष्य की कल्पना मात्र से नैराश्य में डूब जाता है। वह सर्प की तरह फुफकारने वाले अपने अहंकार के कारण और अपनी सांसारिक महत्ता और प्रतिष्ठा के कारण जिन्होंने उसे ईश्वर में व संतों में अविश्वास करने के लिए प्रोत्साहित किया था अब लज्जा का अनुभव करता है। अपने (इन्द्रिय लिप्सा के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए) चरणों को पीछे की ओर घुमाकर अब वह उनका ही आदर करना प्रारम्भ करता है जिनका उसने पहले अनादर किया था, सांसारिक जीवन की क्षण भंगुरता को नहीं समझ सकने की अपनी मूर्खता को स्वीकार करता है और पश्चाताप करता हुआ अपने को पापी, पतित, अविवेकी और नीच कहकर अपनी भर्त्सना करता है। पश्चाताप व स्वनिंदा की आग में झुलसता हुआ वह अब पारमार्थिक जीवन की पिपासा का अनुभव करता है और सज्जन व धर्मपरायण लोगों की सेवा करने की इच्छा करता है ताकि उनसे पारमार्थिक मार्गदर्शन प्राप्त कर सके।

(६) **आशावाद व निराशावादः** अभी अभी हमने जिस रूपान्तरण का अर्थात् मानसिक अथवा नैतिक रूपान्तरण का, विवेचन किया है उससे भिन्न एक दूसरे प्रकार का रूपान्तरण है जिसको हम पारमार्थिक या आध्यामिक रूपान्तरण कहेंगे। इस दूसरे प्रकार के रूपान्तरण का विवेचन करने से पूर्व हम दो ऐसे विषयों की चर्चा करना चाहेंगे जो रोचक तो प्रतीत होते हैं परन्तु जिनको पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने साक्षात्कारवाद के मनोविज्ञान पर विचार करते समय विकृत रूप दे दिया है। उनमें से एक तो आशावाद के विरोध में प्रस्तुत निराशावाद की समस्या है और दूसरी समस्या रूपान्तरण को विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत करने की।

ईसाई मतावलम्बी लेखकों का यह निरन्तर प्रयत्न रहा है कि भारतीय विचारधारा को निराशावादी कहकर उसे नीचा दिखाया जावे ताकि उससे यह संकेत किया जा सके कि भारतीय लोग प्रायः मानसिक रूप से अस्वस्थ और रुग्ण होते हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ इसका इतना अवसर तो नहीं है कि भारतीय विचारधारा के प्रति इस आक्षेप का पूर्ण रूप से खंडन करके यह प्रमाणित कर सकें कि भारतीय मानस पूर्णतया स्वस्थ और सभी प्रकार से रोगमुक्त है। हमारे लिए अभी इतना भर बता देना पर्याप्त होगा कि भारतीय साक्षात्कारवाद में निराशावाद से क्या तात्पर्य है और उससे किस प्रयोजन की सिद्धि होती

है तथा फिर पूर्वाग्रह ग्रस्त इन लेखकों को जैसा वे चाहें वैसा अर्थ लगाने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जावे।

यदि निराशावाद से हमारा तात्पर्य कायरता, निशक्तता, और कातरतापूर्ण स्वभाव से है तो निराशावाद एक दोष है जिसे निष्ठुरतापूर्वक कुचल डालना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत निराशावाद से हमारा अर्थ दुष्टता और बुराई के अस्तित्व की वास्तविकता का तथा मनुष्य जाति के ऊपर उसके चरम और अटल आधिपत्य का सही सही दार्शनिक आकलन है तथा साथ ही इसी कारण उसका सामना करने के लिए व उस पर विजय प्राप्त करने के लिए साहस की आवश्यकता की अनुभूति से है तो निश्चित रूप से निराशावाद एक गुण है जिसे किसी भी प्रकार की पारमार्थिक प्रगति के पूर्व एक आवश्यक तत्त्व के रूप में अभ्यास के लिए अपनाकर जीवन में स्थान देना ही चाहिए। भारतीय विचारधारा यद्यपि ऊपरी दृष्टि से निराशावादी दिखाई देती है तथापि वास्तव में वह शक्तिशाली व स्वस्थ है। एक पुरुष अति सन्निकट एक भीषण घटना के रूप में मृत्यु का चिन्तन शायद ही कर सकता है, शायद ही वह यह भी सोच सकता है कि उसे इससे संत्रस्त न होकर इसका सामना ही करना है, इसी प्रकार शायद ही वह संसार के सुखों को और आनन्द को तथा राजा–महाराजाओं की संपत्ति व ऐश्वर्य को तथा इस जगत की सुन्दरतम वस्तु को तुच्छ समझ सकता है विशेषकर तब जब उसके पास उन पर आधिपत्य प्राप्त कर उनका उपभोग करने की पर्याप्त शक्ति है। जीवन के अन्धकारपूर्ण पक्ष का सामना करने के लिए अत्यन्त साहस, कल्पना शक्ति और आस्था की आवश्यकता होती है। जीवन के उज्जवल पक्ष से तो एक बच्चा भी संतुष्ट रह सकता है। सौभाग्यशाली लोगों के साथ यह कहने में कि वे स्वस्थचित्त और आशावादी हैं न तो साहस की आवश्यकता होती है और न ही कल्पना शक्ति और विचार शक्ति की। अधिक से अधिक यह अनुकूल परिस्थितियों का एक व्यक्तिगत कथन मात्र है न कि वास्तव में जो कुछ है उसके विषय में चिन्तन युक्त मत। जीवन के अन्धकारपूर्ण पक्ष की ओर ध्यान देने से ही जब वे मुकरते हैं और जब वे इस प्रकार परिस्थितियों से घिरे हुए हैं कि वे आदत से ही जैसा विलियम जेम्स ने कहा है '(जीवन की) दुःखद रेखा के उज्जवल पक्ष पर ही रहना पसन्द करते हैं' तब उनके लिए दार्शनिक चिंतन की उच्च स्थिति तक पहुंचकर दोनों पक्षों की सावधानीपूर्वक जाँच–गणना करना और तब अपने मत को प्रकट कर सकना कैसे संभव हो सकता है? विलियम जेम्स के शब्दों में 'गेट जैसे सफल (विजय) उच्च कोटि के आशावादी व्यक्ति भी जब अपनी स्थिति को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट कर सकता है तब उससे कम सफलता–प्राप्त व्यक्तियों की क्या दशा होगी?' मैं अपने अस्तित्व के प्रवाह के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहूँगा, परन्तु इसकी तह में पीड़ा और बोझ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है और मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरे पचहत्तर वर्ष के सम्पूर्ण जीवन काल में चार सप्ताह के लिए भी मुझे सच्चा सुख प्राप्त नहीं हुआ। इसी प्रकार लूथर भी जो संसार के सर्वाधिक सफलता प्राप्त व्यक्तियों में से एक है अपने जीवन को पूर्णतया असफल घोषित कर उस असफलता के कारण अपने कंठहार को खुशी खुशी निगलने को तैयार हो गया था।

तुकाराम कहते हैं कि इस जीवन में सुख जव के दाने के बराबर है तो दुःख पहाड़ तुल्य। 'संसार में सर्व सुखी कौन है?', ऐसा स्वामी रामदास पूछते हैं। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि मृत्यु तो एक बच्चे की गर्भावस्था से ही उसके साथ लगी रहती है। इस प्रकार के उद्‌गार कमजोरी की निशानी नहीं, दुष्टता व बुराई के अस्तित्व को स्वीकार कर बहादुरी से उसका सामना करने का जीवन्त साहस है।

यदि हम आशावाद और निराशावाद दोनों की चर्चा दो भिन्न भिन्न स्तरों पर करें तो हमारा तर्क अधिक स्पष्ट हो जायेगा। निम्न स्तर पर निराशावाद कमजोरी है जो दूर रखनी चाहिए। इसी प्रकार निम्न स्तर पर आशावाद सतही संतोष है जो अपने स्वाभाविक अनुकूल परिस्थितियों का एक अल्पकालीन अवसर मात्र है। हमें उस पर अधिक अभिमान नहीं करना चाहिए क्योंकि हम नहीं जानते कि 'हमारे जीवन की घंटी में कब टूटन जा जाएगी' उच्च स्तर पर अवस्थित निराशावाद, सदैव ही जीवन के अन्धकारमय पक्ष को मन में स्पष्ट रूप से देख सकने के लिए आवश्यक असामान्य साहस और कल्पना शक्ति का परिचायक है और भारतीय विचारधारा पर इसी उच्च स्तरीय निराशावाद की छाप है। इसमें अन्तर्निहित भाव यह है कि जीवन–श्रृंखला अपनी कमजोर से कमजोर कड़ी से अधिक शक्तिशाली नहीं है, और हमें उसकी कठोर और दुःखद वास्तविकता का सामना करना चाहिए। जीवन के बोझ को उपालम्भ देते हुए सहन करने के स्थान पर बहादुरी से उसका सामना करना चाहिए और जैसे जैसे एक व्यक्ति में नैतिक उत्साह की वृद्धि और पारमार्थिक प्रगति से शक्ति संचित होती जाती है वैसे वैसे ही एक नवीन आशावाद का उदय होता है जिसका स्वरूप एक साक्षात्कारी संत को ही विदित है। यह आनन्द अब तथाकथित स्वस्थ मानस के लोगों का, अथवा यों कहिए कि स्वस्थ शरीर वालों का, विस्मृत सतही वस्तुओं का वह आनन्द नहीं है जो हाट, बाजार या सार्वजनिक स्थानों में दिखाई देता है। यह बुराई और दुर्भाग्य पर प्राप्त की गई विजय का आनन्द है। ऐसे किसी व्यक्ति के लिए जिसके जीवन में संघर्ष का प्रसंग आता ही नहीं है इस प्रकार का आनन्द प्राप्त करना असंभव ही है। इस जगत के तथाकथित आशावादी दो प्रकार से दयनीय हैं। एक तो उनके सामने हल करने के लिए कोई समस्या ही नहीं है और यदि कोई समस्या है भी तो वे या तो उसे विस्मृत कर देते हैं या उसकी उपेक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त, वे उद्धत हैं क्योंकि जिन लोगों में विचार शक्ति व कल्पना है उ़नको वे निराशावादी कहकर निन्दित करते हैं। वे यह नहीं समझते कि निराशावाद के अन्धकार की और तपश्चर्या की पृष्ठभूमि पर ही नैतिक और पारमार्थिक विजय दैवी आनन्द और आशावाद के चौखे रंगों में जगमगाने लगेगी।

(३) रूपान्तरण और किशोरावस्था : पारमार्थिक रूपान्तरण पर विचार करने के पूर्व जो समस्या हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है रूपान्तरण का विभिन्न प्रकारों में वर्गीकरण। विलियम जेम्स और स्टॉरबक रूपान्तरण को दो रूपों के अन्तर्गत वर्गीकृत करते हैं : एक तो स्वैच्छिक और दूसरा समर्पणात्मक। विलियम जेम्स का कथन है कि 'स्वैच्छिक रूपान्तरण में पुनरुद्धारक परिवर्तन प्रायः क्रमिक और शनैः शनैः होता है। इसमें धीरे धीरे

थोड़ा थोड़ा करके नैतिक और आध्यात्मिक आदतों के समूह का निर्माण कर उन्हें संगठित किया जाता है!' डॉ. स्टॉरबक के अनुसार आत्म समर्पण भी अपरिहार्य प्रतीत होता है। डॉ. स्टॉरबक का कथन है कि 'उसको विश्राम करना ही चाहिए अर्थात् उसे उस महती शक्ति का जो उसे सदाचार की ओर उन्मुख करती है आश्रय लेना ही चाहिए।' एक भिन्न आधार पर ए.सी. अन्डरवुड तीन प्रकार के रूपान्तरण की चर्चा करते हैं। बौद्धिक, संवेगात्मक और नैतिक। रूपान्तरण क्रमिक भी हो सकता है और आकस्मिक भी। रूपान्तरण प्रस्तुत होने के कारण विभिन्न होने से हमें तत्काल ही पता चलता है कि इन मनोवैज्ञानिकों द्वारा उल्लेखित कारणों में से प्रत्येक में सत्य का अंश है। एक विचारशील व्यक्ति के लिए रूपान्तरण स्वैच्छिक, क्रमिक और बौद्धिक ही होगा। यदि उसको एक विशिष्ट क्रिया–प्रणाली को अपनाना है तो पहले उस क्रिया–प्रणाली द्वारा उसको बौद्धिक संतोष प्राप्त होना चाहिए और तब फिर (वही बौद्धिक संतोष उसकी) इच्छा–शक्ति को प्रेरित करता है। ऐसे व्यक्ति में जिसमें संवेगों का आकस्मिक उतार और चढ़ाव देखा जाता है, रूपान्तरण भी बहुधा आकस्मिक और आत्म–समर्पणात्मक होगा। यह संवेग ही है जो आकस्मिक होने के कारण शक्तिशाली होता है और अपने शिकार को दबाकर समर्पण करने के लिए बाध्य कर देता है। दूसरी ओर नैतिक रूपान्तरण या तो आकस्मिक होता है या क्रमिक और इसी प्रकार या तो स्वैच्छिक होता है या उसके विपरीत। यह विगत अनैतिक जीवन के प्रति उत्पन्न विद्रोह के स्वरूप पर निर्भर करता है।

डॉ. स्टॉरबक द्वारा प्रस्तावित यह दृष्टिकोण कि रूपान्तरण 'स्पष्ट रूप से किशोरावस्था की ही घटना है' शीघ्रतापूर्वक किया गया एक ऐसा सरल सामान्यीकरण है जो अनुभवाश्रित पर्यवेक्षण की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। हम यह स्वीकार करते हैं कि इस किशोरावस्था में शरीर व मानसिक शक्तियों के परिपक्व होने में और धार्मिक रूप से जागृत होने में निकट सम्बन्ध है, परन्तु इसी कारण इन दोनों में कार्य–कारण–सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। धार्मिक रूप से जागृत होने की स्थिति मनुष्य–जीवन की किसी भी अवस्था में आ सकती है क्योंकि जिन कारणों से प्रेरित यह जागृति उत्पन्न होती है वह कारण एक दूसरे से इतने भिन्न होते हैं कि वे सभी किशोरावस्था में ही उत्पन्न होते हैं ऐसा कहना कठिन है। हमारी कितनी इच्छा है कि यह धार्मिक जागृति किशोरावस्था में अथवा उससे भी पहले हो सकती ताकि धार्मिक कृत्य अधिक समय तक और अधिक शक्ति से किए जा सकते।

प्रत्यारूपान्तरण की प्रक्रिया अथवा यों कहिए कि 'च्युति' या 'अवनति' की स्थिति यद्यपि मनौवैज्ञानिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण नहीं है तथापि विलियम जेम्स ने उसे तथ्य रूप में स्वीकार किया है। हमारा सुझाव है कि जहाँ तक जीवन के प्रति दृष्टिकोण के परिवर्तन का सम्बन्ध है उसमें परिवर्तन या प्रत्यावृत्ति की संभावना रहती है। यदि जो विश्वास उत्पन्न होता है, वह इतना दृढ़ नहीं है कि क्रियोन्मुख कर सकते तो 'च्युति' हो सकती है। परन्तु जिस पारमार्थिक रूपान्तरण का विवेचन हम अभी करेंगे उसमें ऐसा प्रत्यारूपान्तरण संभव ही नहीं है।

(४) **रूपान्तरण में गुरु का कार्य :** जिस प्रकार एक झरना नदी में मिल जाने के बाद पृथक नहीं किया जा सकता या जिस प्रकार पारस के स्पर्श के बाद जो लोहा सोना बन चुका है वह फिर से लोहा नहीं बन सकता, उसी प्रकार एक जिज्ञासु जो एक बार पारमार्थिक ज्ञान में दीक्षित हो चुका है, कभी भी पारमार्थिक इकाई के रूप से विलग नहीं हो सकता। आचरण की दृष्टि से उसमें दोष आ सकते हैं, वह जैसा जीवन पहले बिताता था उसी प्रकार के जीवन में फिर लिप्त हो सकता है, परन्तु वह पारमार्थिक कड़ी जिसने उसे ईश्वर से जोड़ दिया है कभी भी नहीं टूट सकती। वह तात्त्विक रूप से कभी भी अपारमार्थिक नहीं हो सकता फिर चाहे वह इस प्रकार का आचारण ही क्यों न करे या वाणी से ऐसे वचन ही क्यों न बोले जो एक परमार्थी को शोभा नहीं देते। यह उसकी पारमार्थिक प्रगति में बाधा मा्त्र होगी, परन्तु 'अमरजीवन' का जो बीजारोपण हो चुका है उसे उखाड़ के कभी भी नहीं फेंका जा सकता। पारमार्थिक रूपान्तरण बीज रूप में व सत्व रूप में, जीव का शिव से, आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर देता है और फिर उसकी सम्पूर्ण भावी पारमार्थिक साधना इस तादात्म्य को प्रकट रूप प्रदान करने का और मान्यता प्रदान करने का काम करती है।

जैसा कि हम पारमार्थिक जीवन के अप्रमाणित सिद्धान्तों पर विचार करते समय देख चुके हैं, पारमार्थिक रूपान्तरण की एक विचित्र विशिष्टता यह है कि इस प्रकार के रूपान्तरण के लिए किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता होती है। एक व्यक्ति स्वयं अपने प्रयत्नों से, बिना ईश्वर साक्षात्कारी संत की सहायता प्राप्त किए, परमेश्वर प्राप्ति का वास्तविक मार्ग ढूंढ ले यह प्रायः असंभव ही है। एक व्यक्ति का मानसिक या नैतिक रूपान्तरण बिना किसी अन्य व्यक्ति के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के भी हो सकता है। निस्संदेह पारमार्थिक प्रगति के लिए बौद्धिक, मानसिक, नैतिक तथा भक्ति ये सभी आवश्यक तत्त्व हैं परन्तु सैद्धान्तिक तत्त्व–मीमांसा की दृष्टि से या निरपेक्ष सत्ता के दृष्टिकोण से जीव और शिव के बीच जो तादात्म्यता है उसको क्रियात्मक पारमार्थिक जीवन का रूप देने के लिए जीव और शिव के बीच की कड़ी को जोड़ने का काम किसी बाह्य शक्ति द्वारा ही संपादित होता है। पारमार्थिक जीवन मुख्यतः मूल रूप में (ईश्वर रूप) 'बनने' का जीवन है और उसके बाद ज्ञान–प्राप्ति या जानकारी प्राप्त करने का। अतः पहले एक व्यक्ति को ईश्वर रूप या ईश्वर के अधिकाधिक समरूप बनना पड़ता है और तब उस 'बनने' के क्षण में ही वह जान जाता है कि वह ईश्वर से एक रूप हो रहा है। स्वाभाविक ही है कि उसे जो 'बनना' है वह रूप उसमें पहले से ही विद्यमान हो – फिर भले ही वह बीज रूप में ही क्यों न हो, परन्तु तब वह बीज ऐसा होगा जो वृद्धि को प्राप्त हो सकता है। ईश्वर का नाम या प्रत्यय ठोस है, मूर्त्त है ; वह अमूर्त्त प्रत्यय या वर्ग–संज्ञा नहीं जो कभी भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते। अमूर्त्त प्रत्ययों की योजना एक व्यक्ति को अनुर्वर दर्शनशास्त्र के निर्माण की ओर ले जायेगी जिसे वह स्वयं और अन्य लोग बुद्धि द्वारा समझ सकेंगे। वे

'ईश्वर' से क्या तात्पर्य है इसका बौद्धिक ज्ञान मात्र प्राप्त कर सकेंगे, परन्तु ईश्वर रूप या ईश्वर सदृश कभी भी नहीं बन सकेंगे।

हमको चाहे अच्छा लगे या नहीं परन्तु यह सत्य है कि ईश्वर को जानने का अथवा उससे साक्षात्कार प्राप्त करने का रहस्य एक साक्षात्कारी संत के हाथ में ही है। यदि हम दिव्य वृक्ष के रूप में पुष्ट बनना व वृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारे हृदय में ईश्वर का बीज रूप में रोपण संत द्वारा ही होना चाहिए; यदि हम विशाल पारमार्थिक वृद्धि के रूप में प्रज्वलित होना चाहते हैं तो परमार्थ ज्ञान का स्फुलिंग हमें संत से प्राप्त करना पड़ेगा। हमें ईश्वर तक पहुंचाने में समर्थ, ईश्वर का प्रतीक मंत्र जिसे शब्द कहिए या 'लागोस' संत से ही प्राप्त करना होगा। केवल गुरु–प्रदत्त नाम से ही हम अपने में पारमार्थिक रूपान्तरण ला सकते हैं। पहले हमें अपने मन में उस नाम को–पारमार्थिक उपदेश को–सुदृढ़ रूप से स्थापित कर लेना चाहिए और फिर उचित समय आने पर ईश्वर को जानने और ईश्वर रूप बनने के ये दोनों काम साथ हो जायेंगे।

पारमार्थिक रूपान्तरण की दूसरी विशेषता यह है कि उसके लिए पहले मनोवृत्ति का रूपान्तरण होना आवश्यक नहीं और न यह ही कहा जा सकता है कि नैतिक रूपान्तरण के पश्चात पारमार्थिक रूपान्तरण होगा ही। ईश्वर अपने भक्त का चुनाव करता है और गुरु भी ठीक ऐसा ही करता है। उसकी कृपा एक पापी पर भी हो सकती है, परन्तु वैसी ही कृपा प्राप्त करने में नैतिकता सम्पन्न व्यक्ति को एक लम्बा समय लग सकता है। वह ऐसा क्यों करता है यह तो वह स्वयं ही जाने, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम उच्छृङ्खल व्यवहार करें, उसका इतना ही अर्थ है कि ईश्वर की शक्ति को सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। जिस क्षण ईश्वर उसे अपना बना लेगा 'उसी क्षण ईश्वर के नाम की शक्ति से उसके समस्त पाप धुल जायेंगे।'पापों को धोने के लिए पहले से ही कोई पृथक प्रयत्न यथा पश्चाताप अथवा नैतिक रूपान्तरण की आवश्यकता नहीं रहती। और फिर भी मानवीय दृष्टिकोण से यह सत्य है कि पश्चाताप और स्वनिंदा बहुमूल्य नैतिक संपत्ति है क्योंकि इससे एक व्यक्ति के मन में ईश्वर की कृपा प्राप्त कर सकने की आशा जागृत होती है। ऐसा व्यक्ति द्विगुणित रूप से दृढ़ होगा – एक तो स्वयं अपनी नैतिक योग्यता के कारण और दूसरा ईश्वर की कृपा के कारण।

पारमार्थिक जीवन के लिए गुरु क्या करता है इसका संक्षिप्त विवरण देकर इस अध्याय को समाप्त करेंगे। जहाँ तक उसके प्रमुख लक्षणों का प्रश्न है हम उसका विवेचन 'आदर्श संत' नामक अध्याय में करेंगे। गुरु ही एक भक्त को ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त करने का मार्ग बता सकता है और यही उसका सबसे बड़ा कार्य है। जिस प्रकार एक माता अपने दूध से अपने बच्चे का पोषण करती है उसी प्रकार गुरु अपने शिष्य के कानों का पोषण करता है उपदेश देकर, और फिर उसी क्षण उसे ईश्वर के साथ जोड़ देता है तथा बन्धनों की शृंखला को तोड़ गिराता है। अपने शिष्य का पारमार्थिक पोषण ही उसका उद्देश्य होने के कारण गुरु उस शिष्य को साधन–पथ पर अग्रसर करता है और संसार–सागर की बाधाओं और कठिनाइयों को पार करने के लिए मानो उसका हाथ

पकड़कर सहायता करता है। वह न शिष्य का अनावश्यक दुलार करता है और न उसे, जितना वह उचित समझता है उससे अधिक ऐन्द्रिय इच्छाओं मे लिप्त होने का अवसर देता है और शिष्य समस्त पृथ्वी लोक का राज्य दे सकने की सामर्थ्य रखता हो तो भी उससे कुछ प्राप्त करने की आशा से वह उसकी चाटुकारी नहीं करता । वह अपने शिष्य से एक ही अपेक्षा करता है और वह है ईश्वर का भजन।

[५]

मूर्त्ति पूजा से ईश्वर–साक्षात्कार तक

अब जब कि हम एक व्यक्ति के ऐन्द्रिय जीवन से पारमार्थिक जीवन पथ की ओर अग्रसर होने की एक सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत कर चुके हैं, हमें यह भी देखना चाहिए कि सामान्यतः मूर्तियों के पूजन से वह किस प्रकार ईश्वर के ध्यान में निमग्न होने की व उसके नाना रूपों के दर्शन में लीन होने की स्थिति तक पहुंचता है। यह कार्य अधिक सरल और सुघड़ हो जायेगा यदि हम 'धार्मिक विश्वास' नामक अध्याय में विवेचित मानवता–आरोपण के दो प्रकार, काल्पनिक और प्रतिनिधियात्मक–और उनके भेदों की व्याख्या ध्यान में रखें। ज़ेनोफ़नीज ने बहुत पहले ही बता दिया था कि मानवता–आरोपण का प्रथम प्रकार अर्थात् काल्पनिक मानवता–आरोपण सर्वथा अनुपयोगी और निरर्थक है। परन्तु जहाँ तक हिन्दुओं के विश्वास का सम्बन्ध है दूसरे प्रकार का अर्थात् प्रतिनिधियात्मक मानवता–आरोपण अत्यन्त फलदायी प्रमाणित हुआ है। इस दृष्टि से कुछ समय पूर्व हमने अन्यत्र[१] जो एक लेख लिखा था उसको उद्‌धृत करेंगे ओर इस प्रकार मूर्त्ति पूजा का औचित्य बताते हुए साथ ही उसकी सीमाओं का भी विवेचन करेंगे; तथा सन्तों के द्वारा प्रतिपादित योग के द्वारा उसमें एक के बाद दूसरे होने वाले परिवर्तनों का और विकास का विवेचन करते हुए ईश्वर–साक्षात्कार की स्थिति तक पहुंचने के मार्ग का दिग्दर्शन कराएँगे।

मूत्तिपूजा का औचित्य और उसकी सीमाएँ :

हिन्दु मूर्त्तिपूजा करते हैं और ये हिन्दु ही हैं जो उसकी आलोचना भी करते हैं। मूर्त्तिपूजा के विरोधियों द्वारा इसकी जितनी कटु आलोचना संभव है उतनी ही कटु और कठोर भर्त्सना स्वयं हिन्दुओं ने ही की है। पिछली अनेक शताब्दियों से प्रचलित उनके

---

[१] 'परम्परागत योग' by Gangadas Vyas, pp 35-39, Dec. 1971.

दार्शनिक सिद्धान्तों और नाना प्रकार के धाार्मिक विश्वासों के रहते यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कुछ धार्मिक सिद्धान्त अथवा विश्वास कट्टरता की सीमा तक पहुँच चुके हैं, उनके अनुसार उनका ही धर्म सही है और इसी कारण वे दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णु हो उठे हैं और मूर्त्तिपूजा का कट्टर विरोध करते हैं। परन्तु यदि कट्टरता और पूर्वाग्रह को छोड़ भी दें तो भी हिन्दू विचारधारा का विकास 'बहुदेववाद' से 'एकैकदेववाद' और 'एकैकदेववाद' से 'एकेश्वरवाद' तक दार्शनिकों की आलोचनात्मक दृष्टि व ऋषियों की अन्तर्दृष्टि से ही संभव हुआ है। फिर भी आज हम देखते हैं कि यहाँ केवल 'एकेश्वरवाद' ही नहीं अपितु 'एकैकदेववाद' से 'बहुदेववाद' भी उसी प्रकार प्रचलित है। इतना ही नहीं सबसे बड़े रहस्य की बात तो यह है कि हिन्दुओं में जो श्रेष्ठ विद्वान व उच्च कोटि के पंडित हैं और जो सैधांतिक रूप से एक ईश्वर में विश्वास करते हैं परन्तु प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में अनेक देवताओं की पूजा वे स्वयं करते हैं और दूसरों को भी ऐसा ही करने की अनुमति देते हैं। यह कोई अज्ञानजन्य सुविधा या अज्ञान को दी गई छूट नहीं है, यह तो सब को दिया गया ऐसा विशेषाधिकार है जो न्यायोचित है और जिसका उपयोग करना हमारी इच्छा पर निर्भर है। जो कुछ वैदिक युग में प्रचलित था वह आज भी प्रचलित है। उस समय इन्द्र अनेक शक्तियों से सम्पन्न था इसलिए अनेक रूप धारण करता था। 'अग्नि' को तीन चरण, दो मस्तक और सात हाथों वाला कहा गया था तो पुरुष सहस्र सिर, सहस्र चक्षु और सहस्र चरणों वाला। एक देव के कार्याधिकार को दूसरा देव छीन लेता था। आज भी गणेश, लक्ष्मी, काली, विष्णु आदि देवी–देवताओं के अनेक नाम, अनेक रूप, अनेक कार्य और अनेक शक्तियें उपलब्ध हैं। इन देवी–देवताओं के उपासकों में ऐसे अज्ञानियों का समूह ही नहीं है जिनका उद्देश्य अपनी तुच्छ, स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के अतिरिक्त कुछ भी न हो, वरन अत्यन्त ख्यातिप्राप्त दार्शनिक, संत और साक्षात्कारी पुरुष भी हैं। द्वैतवादी और ईश्वरवादी आचार्यों की बात छोड़ भी दें तो भी शंकराचार्य जैसे महान अद्वैतवादी दार्शनिक संत ने भी अनेक देवी–देवताओं की स्तुति में अत्यन्त सुंदर स्तोत्रों की रचना की है। इसी प्रकार अति निकट वर्तमान युग के भी अनेक महान हिन्दू सन्तों का नामोल्लेख हम कर सकते हैं जिन्होंने राम, कृष्ण आदि अनेक अवतारों की स्तुति और पूजा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक युग से लेकर आज हमारे अपने युग तक हिन्दुओं में देवी–देवताओं के अनेक रूपों व उनकी नानाविध शक्तियों को मूर्त्तियों व प्रतिमाओं के रूप में पूजा जाता रहा है जिससे हिन्दुओं की उनके प्रति श्रद्धायुक्त मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। हमारे सामने अब प्रश्न यह है कि इस श्रद्धायुक्त पूजा का हमारे मन में क्या महत्त्व या मूल्य है? क्या हम यह कहेंगे कि अनेक देवी–देवताओं में विश्वास व उनकी पूजा अतीत काल के अन्धविश्वासों की विरासत है, या प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण कर उसके प्रति प्रदर्शित मूक एवं अज्ञान जन्य श्रद्धांजलि मात्र है अथवा मानवता–आरोपण सम्बन्धी आकार विहीन, अस्पष्ट धारणाएं है, निष्प्राण वस्तुओं में प्राण स्फूर्त तत्त्वों का भय, कल्पना प्रसूत कला तथा मायावी इन्द्रजाल आदि में हमारे विश्वासों कायह एक अनियंत्रित और बेडाल मिश्रण मात्र है? एक नास्तिक को यह कहने के लिए कि 'ईश्वर का अस्तित्व' नहीं है कोई पूंजी खर्च नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार मूर्त्तिपूजा

का खंडन करने के लिए अल्पाति अल्प बुद्धिवाला व्यक्ति भी शक्तिशाली शब्दों में कह सकता है कि मूर्तिपूजा विश्वनियंता परमेश्वर के अपमान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इधर सम्पूर्ण पक्षों को ध्यान में रख कर इस समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जावे तो एक पूरे ग्रंथ की आवश्यकता होगी। अतः इस छोटे से लेख में हम यही बताकर संतोष करेंगे कि इस विषय में हमारा अपना मत क्या है और इस प्रकार के मत के लिए हमारे पास क्या कारण है।

बहुदेववाद के ही एक रूप में मूर्ति पूजा का सम्बन्ध निश्चित ही उस वाद से है जिसे हम ईश्वरवाद कहते हैं। देववाद और सर्वेश्वरवाद इन दोनों से भिन्न होने के कारण ईश्वरवाद को एक ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो केवल अन्तर्यामी या केवल बहिर्यामी न होकर अन्तर्यामी और बहिर्यामी दोनों ही हो। मात्र बहिर्यामी होने से वह भय और पूजा का लक्ष्य बन जाता है और अन्तर्यामी होने से प्रेम और विश्रान्ति का स्थल। दूसरे शब्दों में मानव–हृदय जिन जिन भावों यथा भय, श्रद्धायुक्त विस्मय, आदर, शरणागति, प्रेम इत्यादि से उद्वेलित हो सकता है ईश्वरवादी विश्वास का परमात्मा उन सब भावों के अनुरूप गुणों से विभूषित बताया जाता हे और वे गुण ही इन विभिन्न प्रकार के भावों की उत्पत्ति के कारण बनते हैं। यही कारण है कि ईश्वर को भयावह व साथ ही कृपालु कहा जाता है अथवा कोप और कृपा दोनों से परिपूर्ण बताया जाता है। मूर्तिपूजकों के लिए मूर्तियें व प्रतिमाएं भी यही कार्य करती हैं।

परन्तु यदि हम यह मूल प्रश्न उठायें कि हमारे इस विश्वास का आधार क्या है अर्थात हम किसी आधार पर यह मानते हैं कि ईश्वर में यह या वह गुण है, तो हमें तत्काल यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि यह या तो मानवता–आरोपित कल्पना से उत्पन्न, तर्काधार विरहित, परम्परागत, अप्रमाणित धारणा है, या फिर यह कहना पड़ेगा कि किसी के विगतकालीन प्रत्यक्ष व तात्कालिक अनुभव पर आधारित वह सत्य है जिसने कालान्तर में अनुभव की पुनरावृत्ति के अभाव में व नवीनीकरण न हो आने के कारण शाब्दिक और चित्रमय कल्पना का रूप ग्रहण कर लिया है। इस दृष्टि से ईश्वरवाद या तो मानवीय गुणों को ही बढा चढा कर तैयार किया गया एक खोखला ढांचा मात्र है, तत्त्व विहीन आकार मात्र है, अथवा साक्षात्कारी अनुभव जिसे प्रा0 रा0 दा0 रानडे ने 'ईश्वर अथवा चरम सत्य से प्रत्यक्ष व सीधे सम्पर्क' की संज्ञा दी है, की दृढशिला पर आधारित आनंद और शान्ति का चिर स्रोत है। इस प्रकार दूसरे अर्थ में ईश्वरवाद साक्षात्कार के लिए परकोटे का कार्य करता है या यों कह सकते हैं कि ईश्वरवादी दर्शन वहीं तक सत्य है जहां तक कि वह साक्षात्कारी अनुभव की वस्तुनिष्ठ, सर्वजनीन व आवश्यक प्रमाणिकता का यथातथ्य वर्णन करता है। अन्यथा, इसके अभाव में उसे कोरी कल्पना अथवा प्रलाप मात्र माना जाकर तिरस्कृत किये जाने का भय सदैव बना रहेगा।

बहुदेववाद और मूर्त्तिपूजा के लिये भी इस न्याय के आधार पर हम अविलम्ब कह सकते हैं कि जो बात ईश्वरवाद के लिए सत्य है वह उसके विभिन्न रूपों के लिये भी सत्य होगी। यदि एक व्यक्ति को ईश्वर के कोप का या ईश्वर के प्रेम का अनुभव है और इसीलिए वह कहता है कि 'ईश्वर प्रेमरूप है' अथवा 'ईश्वर कोपवन्त है' तो उसके अनुयायी भी जिनको ऐसा कोई अनुभव नहीं है ईश्वर के विषय में यही बात कहने लग जाते हैं। आस्था पर आधारित इस विश्वास के लिए अन्तदृष्टि से प्राप्त विश्वास आश्वासन का काम करता है। संत पॉल ने कहा – 'जैसे मैं ईसा मसीह के पीछे जाता हूं वैसे ही तुम मेरे पीछे आओ।' उनके इस कथन ने लोगों की आस्था को आकर्षित किया। परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि उनको इसका अनुभव है कि 'ईसा उनके हृदय में निवास करता है' और उनकी अपनी आस्था इसी अनुभव पर आधारित है। आस्था से आस्था की उत्पत्ति होती है। संत पॉल की आस्था 'ईसा मसीह मेरे हृदय में निवास करते हैं' एक अनुभव से हुई थी, परन्तु इतर लोगों की आस्था को एक साहसिक कार्य ही कहा जायेगा क्योंकि वह संत पॉल के वचनों की सत्यता पर आधारित है। प्रारम्भ में यह दूसरे प्रकार की आस्था किसी व्यक्ति को अंधविश्वास ही प्रतीत हो, परन्तु कालान्तर में इस प्रकार की आस्था वाले व्यक्ति को भी पारमार्थिक अनुभव आने शुरू हो जायेंगे और तब वह आस्था अनुभव पर आधारित आस्था में परिवर्तित हो जायेगी। यदि अनुभव पर आधारित आस्था को हम 'नीचे की ओर का मार्ग' कहें तो अनुभव की ओर ले जाने वाली आस्था को हम 'ऊपर की ओर का मार्ग' कह सकते हैं। इस द्विविध क्रिया में एक बात ध्यान देने योग्य और महत्त्वपूर्ण है। सामान्य लोगों के लिए ईश्वर विषयक अज्ञान और साक्षात्कारी संत की ईश्वरानुभूति इन दोनों के बीच गहरी खाई है और इस खाई को हम साक्षात्कारी संत पर विश्वास करके ही पाट सकते हैं। अज्ञान में लिप्त मनुष्यों के और सर्वत्र उपस्थित, सर्वज्ञ परमेश्वर के बीच मध्यस्थ का कार्य करने की शक्ति केवल संत में ही है और वही सामान्य लोगों को ईश्वर का मार्ग, परमार्थ–पथ बता सकता है। ईश्वर के नानाविध रूप यथा हंस, सर्प, परों वाले घोड़े, वृद्ध ऊंट, वृषभ, अर्द्ध या पूर्ण चंद्र, उदय होता हुआ सूर्य, बालक, अर्द्धसिंह–मानव, हाथी या स्त्री या पुरुष देहधारी मनुष्य जिसके एक या एकाधिक हाथ, सिर, आंखें इत्यादि हों ऐसे ईश्वर के नानाविध रूपों के दर्शन पहले पहल संतों को ही होते हैं। ईश्वर के ये सभी रूप निर्मल, प्रकाश से निर्मित, विभिन्न आकर्षक रंगों से वेष्टित, विभिन्न रूप, आकार और विस्तार लिए होते हैं। इनके दर्शन में लीन होकर संत एक ऐसे अनुपम आनंद का, एक ऐसी अलौकिक शान्ति का अनुभव करता है जो अनश्वर है। इन रूपों के सौन्दर्य, वैभव, तेजस्विता और भव्यता से वे संत इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वे उन रूपों को सुरक्षित रखने के प्रलोभन को रोक नहीं सकते। परिणाम यह होता है कि उन रूपों की मूर्त्तियें, उनके चित्र आदि बनते हैं। ये प्रतिकृतियें, मूल, दिव्य रूपों की तुलना में कितनी ही अपरिष्कृत और कुरूप क्यों न हों, उन रूपों की स्मृति तो बनाये रखती ही हैं।

ऐसे असंख्यों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे पता चलता है कि किस प्रकार कुछ महानतम सन्तों ने भी या तो विभिन्न देवताओं की मूर्त्तियें स्वयं स्थापित की हैं अथवा जो पहले से स्थापित थी उनकी पूजा के कार्य को प्रोत्साहन दिया है। महाराष्ट्र के महान संत समर्थ स्वामी रामदास के बारे में तो यह प्रसिद्ध ही है कि उन्होंने ग्यारह स्थानों पर मारूति की मूर्त्तियें (वे देवता जिनका रूप बंदर के समान है) स्थापित की थी और दो स्थान–चाफल और सज्जनगढ में श्रीराम की मूर्त्तियों की स्थापना की थी। संतों के एक विशाल समुदाय ने, जिनमें महान संत ज्ञानेश्वर, नामदेव और तुकाराम भी सम्मिलित हैं, पंढरपुर में स्थित विट्ठल की प्रस्तरमूर्त्ति को अपनी समस्त पारमार्थिक गतिविधियों का केन्द्र बनाया था और यही क्रम पिछले सात सौ वर्षों से इसी प्रकार अबाध रूप से चला आ रहा है। इसी प्रकार दत्तात्रेय और गणेश (वे देवता जिनका शरीर मनुष्य का व सिर हाथी का है), महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती इत्यादि देवियें जिनके कई हाथ हैं और उन हाथों में कई प्रकार के अस्त्र–शस्त्र हैं, इन सब देवी–देवताओं की पूजा ठेठ रामायण–महाभारत काल से सम्पूर्ण भारतवर्ष में की जाती रही है और इस प्रकार की पूजा करने वाला केवल अशिक्षित जन–समुदाय ही नहीं बल्कि बुद्धि–वैशिष्ट्य–संपन्न पंडितों और पारमार्थिक दृष्टि से महान संतों का समुदाय भी है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि देश के महान संतों ने व साक्षात्कारी पुरूषों ने हृदय की पूर्ण आस्था से ईश्वर की इन विभिन्न मूर्त्तियों में जो विश्वास प्रकट किया है और उनकी पूजा की जो स्वीकृति प्रदान की है उसे इतिहास और दर्शन–शास्त्र के एक निष्पक्ष विद्यार्थी के नाते अज्ञान जनित अन्धविश्वास कह कर तिरस्कृत करना असंभव है। इस समस्या के विषय में स्वयं हमारा मत यह है कि भारत के साक्षात्कारी संतों ने पिछली अनेक शताब्दियों में ईश्वर का जिन नाना रूपों में दर्शन किया था उन ही रूपों का प्रतिनिधित्व ये मूर्त्तियें करती हैं और उनका महत्त्व व मूल्य भी इसी में निहित है।

यह भी स्मरण रखने योग्य है कि वैदिक काल और रामायण महाभारत काल में देवी–देवताओं के अनेक रूपों का जो वर्णन मिलता है वह कुछ इस प्रकार का है कि उसमें मानवता–आरोपण की गंध आती है, परंतु जैसा हम पहले ही कह चुके हैं यह 'मानवता–आरोपण' नहीं, 'साक्षात्कारी–आरोपण' है। मूर्त्तिपूजा का उद्‌गम ईश्वर के प्रत्यक्ष और सद्योजात रूप–दर्शन में ही है। अतः पारमार्थिक जीवन का मुख्य ध्येय ईश्वर–दर्शन ही होना चाहिए और उसके लिए मूर्त्तिपूजा को सहायक और ईश साक्षात्कार की प्रवेशिका के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। यदि मूर्त्ति और वह मन्दिर जिसमें मूर्त्ति स्थापित है पुजारियों की स्वार्थ पूर्ण लोभ–वृत्ति की पूर्ति या उनकी जीविका को स्थायित्व प्रदान करने के लिए न होकर ईश्वर प्राप्ति की सम्भावना का निर्माण करने के लिए हो तो मूर्त्तिपूजा का महत्त्व और मूल्य और भी अधिक बढ़ जायेगा और वह अधिक फलदायी होगी। जगत का कोई धनी से धनी व्यक्ति भी ईश्वर–प्राप्ति नहीं करा सकता, उसकी वास्तविक प्राप्ति तो उन संतों से ही संभव है जिन्होंने स्वयं ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है। मान लो कि

किसी उच्चकोटि के शिल्पकार ने धातु अथवा प्रस्तर से काट, तराश कर एक अत्यंत सुन्दर मूर्त्ति का निर्माण किया है; दूसरी ओर किसी महान साक्षात्कारी संत ने, मान लो रामदास ने, चाफल अथवा सज्जनगढ में श्रीराम की अपरिष्कृत और अनाकर्षक मूर्त्ति स्थापित की है। अब यदि इन दोनों की तुलना की जावे तो ईश्वर–प्राप्ति की दृष्टि से शिल्पकार की श्रेष्ठ कलाकृति भी रामदास द्वारा स्थापित मूर्त्ति के सामने तुच्छ और अनुकृति मात्र ही होगी। इन दूसरी प्रकार की मूर्त्तियों के पीछे सन्तों की स्वीकृति है, परन्तु पहली प्रकार की मूर्त्तियों की पूजा के लिए ऐसी स्वीकृति हो भी सकती है और नहीं भी। इसका अर्थ यह हुआ कि सन्तों से अनुमोदित और उनके कृपा–प्रसाद से अभिसिक्त मूर्त्तिपूजा, अथवा पण्ढरपुर के विट्ठल–मन्दिर जैसे मन्दिर जहां दीर्धकाल से सन्तों का आगमन होता रहा है उनकी पूजा भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और लाभप्रद है। पहले मन्दिर और मूर्त्ति दोनों ही संतों के सम्पर्क में आकर पवित्र होते हैं और तभी फिर वे असंख्यों भक्तों को कृपावर और पवित्रता प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार ईश्वर की मूर्त्तियें भी मानो ईश्वर–साक्षात्कारी सन्तों से प्राप्त कृपा–प्रसाद का भण्डार बन जाती हैं और फिर सम्पूर्ण मानव–समाज में इस कृपा–प्रसाद का वितरण करने के लिए मध्यस्थ और वितरक का काम करती हैं। अतएव हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मन्दिरों में जाना और मूर्त्तियों की पूजा करना एक व्यक्ति को अधिकाधिक पारमार्थिक बनने के लिए प्रेरित करने में अत्यन्त सहायक होता है और साथ ही वह परमार्थोपयोगी आदतों का और अनुशासन का निर्माण करता है। इससे उस व्यक्ति में शरणागति, प्रेम, आदर, भय और पूजा की मनोवृत्तियें विकसित होती हैं। दूसरे भक्तों की संगति से वह पूजा के ही जो भाग हैं ऐसे अनेक धार्मिक कृत्य करना, उनमें आनन्द प्राप्त करना तथा देवी–देवताओं को प्रार्थना व उनकी स्तुति करना आदि शीघ्र ही सीख जाता है।

इन सबका वास्तव में मूल्य है ही। परन्तु धर्म–दर्शन के विद्यार्थी के लिए तथा ऐसे व्यक्ति के लिए जो ईश्वर के स्वयं प्रकाशित, अखण्ड रूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता है यह गंभीर प्रश्न सामने आता है कि इस प्रकार का पूजा–विधान कब तक चलते रहना चाहिए। रोग–ग्रस्त होने पर या वृद्वावस्था के कारण एक व्यक्ति जब अशक्त हो जाता है तब उसके लिए मन्दिरों को जाना अथवा पूजा के धार्मिक कृत्यों को करना किस प्रकार संभव हो सकता है? यदि उसके मन में यह भाव आने लगे कि ईश्वर को अर्पण की गई वस्तुएं और उसको की गई प्रार्थनाएं व स्तुतियें सब व्यर्थ ही गई हैं तो उसका विश्वास डगमगा सकता है। संभवतया तब उसको यह राय दी जा सकती है कि वह अब तीर्थयात्रा करने नहीं जावे और न ही मन्दिरों में दर्शनार्थ जावे; उसके स्थान पर अब तक जिस देवी या देवता की पूजा वह करता है उसका ही चित्र, फोटो या मॉडल अपने घर में ही लगा ले और उसकी भक्ति कर संतोष प्राप्त करे। यदि रुचि और विश्वास यथावत बने रह सकें तो इसमें भी कोई बुराई नहीं है परंतु अधिकांशतः होता यह है कि नये नये देवी–देवताओं का आश्रय ढूंढा जाता है, विशेषकर तब जबकि पहले के देवी–देवताओं के प्रति विश्वास कम होता जा

रहा हो अथवा नये देवी–देवताओं के मन्दिर निकट ही होने से वहां जाना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता हो। शायक मूर्त्तिभंजक के क्रूर हाथों में पहली मूर्त्ति पड़ जावे और तब परिवर्त्तन आवश्यक हो जावे। इतना ही नहीं यह भी संभव है कि उसके मन में यह बात आने लग जावे कि दूसरे देवी–देवताओं से अथवा दूसरे धर्म से उसकी कामनाओं की पूर्त्ति संभव है और तब इस प्रकार की भ्रामक धारणा के कारण उसकी मनोवृति में व्यापारिक लेन–देन की वृत्ति जागृत हो जावे और तब वह इस प्रकार की उपयोगिता को दृष्टि में रखकर धर्म–परिवर्तन तक कर ले। कारण चाहे जो कुछ भी हो अविश्वास अथवा चरम निरूत्साह की अवस्था में मूर्त्तिपूजा को छोड़ दिये जाने का भय सदैव बना रहता है यदि उसके पीछे किसी संत की स्पष्ट स्वीकृति न हो। यह भी संभव है कि तब मूर्त्तिपूजा, मूर्त्तिपूजा न रहकर केवल खोखले, परम्परागत व वंशानुगत धार्मिक कृत्य मात्र रह जावें जिनमें भक्तिभाव की उष्णता की सर्वथा अथवा हो। जब बहुदेववाद उस स्थिति को पहुंच जाता है तब उसका विकास एकैकवाद अथवा एकदेववाद में होने की कोई संभावना नहीं रहती और सर्वेश्वरवाद अथवा ईश्वर साक्षात्कार की संभावना तो और भी कम हो जाती है। तब वहां ऐसा धर्म होगा जिसे अज्ञेयवाद अथवा संदेहवाद भले ही नहीं कहा जावे परन्तु फिर भी तथाकथित तीर्थ स्थानो में अथवा ऐसे मनुष्यों के हृदयों में भक्ति का विशेष प्रभाव रहेगा नहीं और न ही ईश्वर की उपस्थिति होगी।

सारांश यह कि बहुदेववादी पूजा विधान व धार्मिक कृत्यों का पालन करने से अनेक दोषों के उत्पन्न होने की संभावना अवश्य रहती है, परन्तु फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बहुदेववाद वैदिक काल से आज तक निरन्तर अबाध रूप से प्रचलित रहा है और वह एक व्यक्ति के नैतिक और पारमार्थिक व्यवहार में उचित परिवर्त्तन लाने का एक शक्तिशाली साधन सदैव ही बना रहेगा। कारण कि यह बहुदेववादी विश्वास व पूजा–विधान साक्षात्कारी संतों के मार्ग दर्शन में होगा और वे ईश्वर के जिन दिव्य रूपों का दर्शन कर चुके हैं उनकी प्रतिकृतियों की ही पूजा का आदेश देंगे। हां, यह सही है कि प्रारम्भ में यह पूजा और विश्वास अचेतन व अनजानी अवस्था में किया जायेगा। बहुदेववादी पूजा के पीछे इस शाश्वत सत्य की उपस्थिति के कारण ही हिन्दू संत केवल ऐसे देवी–देवताओं की मूर्त्तियों को और साक्षात्कारी संतो के चित्रों की पूजा, की स्वीकृति देते रहे हैं। जिनके दिव्य, निर्मल रूप के दर्शन उनको हो चुके हों।

(२) मूर्त्तिपूजा से मानस पूजा की ओर :

इसी कारण हिन्दू संत उस विशिष्ट देवी या देवता का रूप जिसका पहले दर्शन प्राप्त हुआ हो अपनी स्मृति और कल्पना की सहायता से मानस–पटल पर अंकित कर दर्शन करने और फिर मानसिक रूप से ही निर्मित्त वस्तुओं से उनकी पूजा करने की

अनुमति दूसरों को भी देते संकोच का अनुभव नहीं करते। देवता की पूजा करने के लिए मन ही मन में गंगा और यमुना का जल लाया जा सकता है, इसी प्रकार ताजे पुष्प और फल, गंध और सुन्दरतम पोशाक तथा उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भोजन तत्काल ही मानसिक रूप से निर्माण कर देवता को अर्पित किये जा सकते हैं। तब उस देवता की स्तुति का गायन किया जा सकता है और भौतिक संपन्नता और पारमार्थिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करने के लिए प्रार्थना भी की जा सकती है। भागवत् पुराण का आधार लेते हुए संत एकनाथ ने बताया है कि मानस–पूजा किस प्रकार करनी चाहिए। उनका कहना है कि एक व्यक्ति को अपने मन में एकाग्र कर किसी विशिष्ट देवता के कोमल और सुन्दर चरणों को कल्पना की दृष्टि से मन ही मन में देखने का भाव धारण करना चाहिए ओर जब वे चरण स्पष्ट रूप से मानस–पटल पर दिखाई देने लगे तब क्रमशः इसी प्रकार एकाग्र मन से उनके पाद, उदर, वक्षस्थल और मुखमण्डल देख रहा हूँ ऐसी कल्पना करनी चाहिए। शनैः शनैः नित्य के अभ्यास से देवता की वह पूरी मूर्त्ति जो खड़ी हुई मुद्रा में हो और ऐसे मुस्कराती हो मानो भक्त पर कृपा दृष्टि करने की प्रतीक्षा में ही खड़ी है देख सकता है अर्थात् मन ही मन दर्शन कर सकता है। अपनी आस्था के अनुसार कल्पित किए गए ईश्वर की यह मानस–पूजा एक व्यक्ति की कामना पूर्त्ति करा सकती है और कुछ अलौकिक शक्तियें भी प्रदान कर सकती है। एक बात निश्चित है कि जैसे जैसे पूजा करने वाले की भक्ति में शरणागति, समर्पण भावना, और रूप दर्शन की एकाग्रता में वृद्धि होगी, तथा प्रेम और विश्वास में तीव्रता आयेगी और दर्शन कालावधि बढ़ती जायेगी वैसे वैसे मूर्त्ति का रूप अधिकाधिक स्पष्ट होता चला जायेगा और भक्त ईश्वर दर्शन के आनन्द में खो जायेगा। इस प्रकार देखी गई यह मूर्ति ही उसके लिए सत्य हो जाती है; संकटकाल में व कठिनाइयों में वह एक मित्र ओर मार्गदर्शक की तरह रक्षण करने व सम्मति देने का काम करती है; और पारमार्थिक क्षेत्र में उच्च से उच्चतर सत्यों और अनुभवों की ओर ले जाती है। वास्तविकता तो यह है कि मानस–पूजा के लिए जो मूर्त्ति स्मृति, कल्पना, विश्वास, शरणागति और आशा के साथ एकाग्रतापूर्वक किये गये इन सब के सम्मिलित प्रयत्नों के फलस्वरूप निर्मित होती प्रतीत होती है वह प्रारम्भिक अवस्था में मिट्‌टी, प्रस्तर, अथवा धातु से निर्मित पूजा की जो स्थूल और भौतिक मूर्त्ति थी उसी का अशरीरी, परिष्कृत रूप में पुनर्प्रकटन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ईश्वर के प्रतीक के रूप में किसी स्पर्श योग्य, ठोस पदार्थ की पूजा की पद्धति का, जो मानव स्वभाव की मूल प्रकृति है हिन्दू समाज में पोषण और विकास महान् संतों के सुयोग्य मार्गदर्शन में होता रहा है। यही पदार्थ आगे चलकर एक सूक्ष्म, निष्कलंक और फिर भी मानसिक रूप में दृष्टिगोचर होने योग्य एक स्थायी दिव्य वस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मानस–पूजा की यह मूर्त्ति कभी तो पूर्व में देखी गई किसी भौतिक ठोस मूर्त्ति का प्रतिरूप होती है और कभी सर्वथा नवीन रूप में प्रकट होती है। स्पष्ट ही है कि अब वह भक्त मानसिक रूप से जिसका दर्शन करता है उसके प्रति अधिकाधिक प्रेम और आदर प्रकट करेगा, उसका ही अधिकाधिक ध्यान करेगा और फिर भी प्रस्तरादि से निर्मित भौतिक

मूर्त्तियों की ओर अनादर का भाव नहीं आने देगा। वह जानता है कि जो मूर्त्ति पहले उसके बाहर किसी एक विशिष्ट स्थान पर स्थित थी और वहां ही चर्म–चक्षुओं से दृष्टिगोचर होती थी वही मूर्त्ति अब उसके लिए हृदयस्थ अन्तर्यामी और निरेन्द्रिय बन जाती है। अब वह उसका दर्शन कभी भी और कहीं भी कर सकता है; उसे इसके लिए किसी ऐसे अन्य स्थान तक जाने की आवश्यकता नहीं जहाँ मूर्त्ति स्थापित की हुई हो। पारमार्थिक दृष्टि से इसे प्रगति का महत्वपूर्ण चरण कह सकते हैं। यद्यपि वह हिन्दू अब भी आवश्यक रूप से अनेक देवों में विश्वास करता है; सम्भव है कि उसको हृदयस्थ ईश्वर के जिस रूप का दर्शन होता है वह अन्य लोगों को दिखाई देने वाले ईश्वर के रूप से भिन्न हो। पहले विष्णु, शिव और अन्य देवताओं की मूर्त्तियों में जो भेद था वही भेद अब उन देवताओं के मानसिक दर्शन में भी रहेगा और भक्तगण उन रूपों के प्रति अनुरक्त होते रहेंगे। फिर भी उनमें से प्रत्येक को यह पता है कि अन्य भक्तों को स्वयं उसको होने वाले रूपों से भिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। मानस–पूजा की इस आवश्यकता में देवता अनेक हैं और भक्त भी अनेक। बहुदेववादी विश्वास अभी दूर नहीं हुआ है।

परन्तु मूर्त्ति पूजा के स्तर पर जिस मानवता–आरोपण के लांघन की संभावना थी वह अब भी छद्मावेश में बनी ही हुई है ऐसा आक्षेप भी कुछ लोग कर सकते हैं। पहले जो मूर्त्ति मनुष्य के हाथों द्वारा उत्कीर्ण थी चित्रित की जाती थी या उसकी फोटो ली जाती थी वही अब मनुष्य की कल्पना और स्मृति के सम्मिलित प्रयोग द्वारा निर्मित होती है। यह कहने का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि देव के जिस रूप का मानसिक दर्शन किया जाता है वह पूर्ण रूप से ही निर्मित नहीं है और तब यह भी कैसे कहा जा सकता है कि वह दृष्टिभ्रम या मतिभ्रम नहीं है। जो रूप मन में देखा जाता है वह बाहर चर्मचक्षुओं को दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः वस्तुनिष्ठ प्रामाणिकता, आवश्यकता और सार्वजनीनता की किसी निश्चित कसौटी का मानसिक रूप से अनुभूत रूप दर्शन में अभाव होता है। जैसा समर्थ स्वामी रामदास कहते हैं मानस–पूजा के क्षेत्र में गुरु और शिष्य दोनों से ही भूल हो सकती है। मान लीजिए की अत्यधिक मानसिक प्रयत्न करने के पश्चात् शिष्य को मुकुट पहने हुए देव का दर्शन हुआ। वह उन्हें पुष्पहार पहनाना चाहता है परन्तु तब उसको पता चलता है कि मानसकि रूप से ही तैयार किया पुष्पहार छोटा हो गया है और इसी कारण देवता को मुकुट के ऊपर होकर गले में पहनाया नहीं जा सकता। गुरु शिष्य की इस कठिनाई को हल करने के लिए समझाता है कि पहले मूर्ति के सिर पर मुकुट उतार लो और फिर देवता के गले में हार डाल दो। रामदास स्वामी कहते हैं कि गुरु भी वैसा ही मूर्ख है। मानसिक रूप से तैयार किये गये पुष्पों का दुकाल कैसे आ गया? वह अपने शिष्य को कह सकता था कि हार में कुछ और पुष्प डालकर हार को ही लम्बा बना लो और फिर वह हार मुकुट के ऊपर से देवता के गले में पहना दो। इतना ही नहीं मानसिक रूप से मूर्त्ति का निर्माण करने के प्रयत्नों में यदि मूर्त्ति का कोई अवयव अत्यधिक बड़ा या अत्यधिक छोटा हो जाय तो भी कोई क्या कर सकता है ? इसी कारण गणेश की मूर्त्ति बनाने के प्रयत्न में बंदर की मूर्त्ति बन जावे तो भी क्या उपाय है ? अथवा उसकी कल्पना

भ्रान्त हो जाये या मूर्त्ति विकृत हो जाये और इसीलिए पूजा करने वाले के चित्त में क्षोभ उत्पन्न हो तो उसका भी क्या उपचार किया जा सकता है ? इस प्रकार मानस पूजा में न वस्तुनिष्ठ प्रामाणिकता है और न आवश्यता ही और सार्वजनीनता तो है ही नहीं। मूर्त्ति पूजा की यह प्रथा सुधार की ओर जाने के स्थान पर व्यक्तिपरकता और अहंवाद (subjectivism and sotipsism) के गहरे गर्त में जाकर बुरी तरह से फंस जाती है। इसे आत्म प्रवंचना भी कहा जा सकता है।

(३) मूर्त्तियों के स्थान पर ईश्वर के रूप का दर्शनः

ऐसी दशा में क्या करना चाहिए ? स्वामी रामदास कहते हैं कि इसका उपचार यही है कि भविष्य में होने वाले लाभ और उधारके खातों को महत्त्व न देकर परमार्थ–मार्ग में उसके वर्तमान में ही प्राप्य रोकड़े लाभ को महत्त्व देना चाहिए। यह सत्य है कि जो आज व्यक्तिपरक है वह कल वस्तुपरक भी हो सकता है, परन्तु इसका पूर्ण निश्चय नहीं होने के कारण स्वामी रामदास कहते हैं कि हमें उसी अनुभव को मूल्यवान समझना चाहिए जो व्यक्तिपरक होते हुए भी प्रारम्भ से ही वस्तुपरक भी हो। इन्द्रियानुभूति की दृष्टि से मिट्टी की अथवा प्रस्तर की मूर्त्तियें कम से कम बाह्य दृष्टि से वस्तुपरक व सत्य है ही, फिर चाहे उनको तोड़–फोड़कर नष्ट ही क्यों न किया जा सकता हो। चाहे कुछ भी हो वे मन–गढ़न्त या मनस् के ताने–बाने में बुनी नहीं होती। दूसरी ओर मानस–पूजा में मन द्वारा तथा कथित देवताओं के रूप तुलनात्मक दृष्टि से अधिक स्थायी है और किसी बाह्य उपकरण से तोड़े–फोड़े नहीं जा सकते। परन्तु फिर भी आँखें खोलिए तो वे न तो बाहर ही आँखों से दिखते हैं और न मन में ही। जैसा कि संत नामदेव की दासी जनाबाई ने कहा है पारमार्थिक दृष्टि से जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह कि आँखें चाहे खुली हो या बंद, ईश्वर का रूप अपरिवर्तित अर्थात् जैसा बंद आँखों से दिखता था वैसा ही खुली आँखों से दिखाई देना चाहिए। ऐसे पारमार्थिक अनुभवों के लिए ही यह कहा जा सकेगा कि वे वैयक्तिक होने के कारण व्यक्तिपरक हैं और एक से अधिक व्यक्तियों के लिए आवश्यक रूप से एक समान होने के कारण वस्तुपरक भी हैं चाहे आकार और विस्तार जैसी गौण बातों में उनमें कुछ अन्तर भी दिखाई देता हो। तभी वे एक ओर तो दृष्टिभ्रम होने से व दूसरी ओर भौतिक और ऐन्द्रिक होने से बच सकेंगे यद्यपि बहुदेववादी विश्वास का बहुत्व रूप अब भी सब में उसी प्रकार पाया जायेगा। भौतिक मूर्त्तियों और मानसिक प्रतिमाओं का स्थान अब रूप–दर्शन ले लेगा जो मन और शरीर से, भूत मात्र से, पार्थिवता से परे होगा। फिर भी अभी तक ये रूप प्रतिमायें संख्या की दृष्टि से अनेक व एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के लिए भिन्न होंगी।

ईश्वर के इस प्रकार के निष्कलंक निर्मल, वस्तुपरक अन्तःप्रज्ञा को उपलब्ध और सार्वजनीन रूप का दर्शन प्राप्त करने के लिए यज्ञादि कर्मकाण्डी क्रियाओं की लम्बी और

कष्टप्रद गलियों से अथवा जड़–मूर्तियों या मानसिक प्रतिमाओं की अन्धी पूजा से होकर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम पहले भी बता चुके हैं कि ये सब ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रारम्भिक प्रयत्नों या विधियों के रूप में उपयोगी हो सकते हैं। ये उसे गन्तव्य स्थान तक कभी भी नहीं पहुँचा सकेंगे चाहे एक उपासक जीवनभर इनका अभ्यास करता रहे। सभी लोगों के लिए ईश्वर प्राप्ति का एक ही राजमार्ग है और वह है समर्पण का, ध्यान का, प्रेम और प्रार्थना का क्योंकि यही वह मार्ग है जिससे अब तक सभी युगों में और सभी देशों में संतों ने ईश्वर को प्राप्त किया है। परन्तु ऐसा करने के लिए उसे किसी ऐसे व्यक्ति का आश्रय लेना चाहिए जो परमार्थ–मार्ग पर पर्याप्त प्रगति कर चुका हो। सर्व प्रथम उसे अत्यन्त विनीत भाव से व दृढ़ विश्वास से ऐसे व्यक्ति की शरण में जाना चाहिए जिसने ईश्वर–साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है। फिर उससे दीक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् अत्यन्त मनोयोगपूर्वक और पूर्ण निश्चय से ईश्वर प्राप्ति के प्रयत्नों में लग जाना चाहिए। ईश्वर के नाम का जप करते करते ईश्वर के रूप का दर्शन व अनाहत नाद का श्रवण इत्यादि दिव्य अनुभवों को प्राप्त कर ईश्वर को अपने भीतर व बाहर सभी ओर देखना चाहिए। ग्रंथ में जैसे–जैसे हम आगे बढ़ेंगे वैसे–वैसे इस विषय पर और भी अधिक विस्तार से चर्चा करेंगे। अभी इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गेहूँ अथवा चावल की फसल प्राप्त करने के लिए गेहूँ अथवा चावल के दानों को बीज रूप से बोना आवश्यक है। उसी प्रकार ईश्वर प्राप्ति के लिए साक्षात्कारी पुरुष से ईश्वर के नाम का वास्तविक बीज रूपी नाम प्राप्त करना आवश्यक है। तत्पश्चात् उसे अपने विश्वास और समर्पण रूपी उपजाऊ भूमि में बोकर भक्तिपूर्ण ध्यान और प्रार्थना रूपी जल से उसका सिंचन करना चाहिए। केवल तभी वह बीज पौधे के रूप में विकसित होगा और उसका यदि उचित ध्यान रखा जायेगा और उचित पोषण किया जा सकेगा तो वही पौधा एक विशाल वृक्ष के रूप में वृद्धि को प्राप्त करेगा और संतोष, शांति इत्यादि अनेक प्रकार के फलों से लद जायेगा।

(४) ईश्वर–साक्षात्कार, सभी संतों का सामान्य गन्तव्य (लक्ष्य)

वास्तविक ईश्वर साक्षात्कार से हमारा जो तात्पर्य है उसका ही वर्णन उपरोक्त पंक्तियों में हुआ है। यह साक्षात्कार वस्तुपरक सार्वजनीन व वैयक्तिक है यद्यपि जिनको इसका अनुभव प्राप्त होता है वे संत देश, काल, भाषा, जलवायु, परम्परा, रीति–रिवाज आदि अनेक बातों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक जिस भाषा में बोलता है दूसरे के लिए वह दुर्बोध (jargon) प्रतीत होती है और फिर भी अर्थ की दृष्टि से वे सभी एक ही बात कहते हैं। भाषा में विभिन्न प्रकारों से अभिव्यक्त होते हुए भी ईश्वर–साक्षात्कार शाश्वत रूप से अपने आपको एक रूप में प्रकट करता है। ठीक इसी प्रकार एक साक्षात्कारी पुरुष को भी यह ज्ञान होने लगता है कि उसके सामने प्रकट होने वाले अनेक दिव्य रूप उस एक ही देव के हैं। रूप, नाद, सुगन्ध और ईश्वर

की उपस्थिति के समस्त अन्य चिन्ह संख्या में अनेक हो सकते हैं परन्तु वे सभी एक ही दैवी शक्ति के नाना प्रकार हैं और एक ही चैतन्य आनन्द के नाना रूप हैं। उनमें से प्रत्येक पृथक–पृथक रूप से भी मानव–देह और मानव–मन को इसी चेतन आनन्द और शक्ति से भर सकने का सामर्थ्य रखता है। इनको ईश्वर के विभिन्न पक्ष नहीं समझना चाहिए, वे तो ईश्वर की अभिव्यक्ति अथवा उसके अवतार हैं जो मानव, पक्षी, पशु, जड़–पदार्थों और अत्यन्त चमकीले और सुन्दर रंगों के आकर्षक रूपों में प्रकट होते हैं और बार–बार प्रकट होते रहते हैं। ईश्वर के स्वयं प्रकाशित रूपों की अभिव्यक्ति का कोई अन्त ही नहीं है।

परन्तु अब इस समस्त विवेचन के पश्चात् हमारा अपना मत क्या है ? क्या हम यह कहेंगे कि ये सब बहुदेववाद, एक प्रधान देववाद या एकेश्वरवाद है अथवा क्या हम साम्प्रदायिक शब्दावली का प्रयोग किए बिना यह कहेंगे कि अनेकवाद, अद्वैतवाद, अद्वैतप्रधान अनेकवाद अथवा अनेकप्रधान अद्वैतवाद है ? यह ध्यान में रखकर कि चरम सत्ता शाश्वत, असीम, अपरिवर्तनशील, चैतन्य और आनन्दपूर्ण शक्ति है तथा उससे तद्रूप होने की प्रक्रिया आवश्यक रूप से देश और काल से सीमित है। हमें यह कहना पड़ेगा कि इन अनेक विकल्पों में से एक भी सत्य नहीं है। साक्षात्कारी अनुभव की दृष्टि से इसे बहुदेववादी एकेश्वरवाद कह सकते हैं। हम केवल बुद्धि प्रधान, रुक्ष तात्त्विक ज्ञान नहीं, वरन् प्रत्यक्ष पारमार्थिक जीवन चाहते हैं। अतः उसके अनुरूप हमें ऐसा दर्शनशास्त्र प्राप्त करना है जो उस जीवन का एक सही सही बुद्धिगम्य वर्णन दे सके। इस दृष्टि से हमारे मत में हिन्दुओं की पारमार्थिक जीवन–पद्धति जो व्यक्तिगत है और इसी कारण अनेकवादी दिखाई देती है वास्तव में आद्योपान्त एकेश्वरवादी है। पारमार्थिक अनुभवों का कोई अन्त नहीं। उनमें कुछ स्थायी रूप में प्रकट रहते तो कुछ अपने आप को लुप्त कर लेते हैं परन्तु फिर प्रकट हो जाते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो सर्वथा नवीन रूप से प्रकट होते हैं। परन्तु वे सभी मिलकर एक आत्मा ही है जो नाना रूपों में प्रकट होता है। स्वर्ण के समस्त अलंकार स्वर्ण ही होते हैं अथवा समुद्र में उठने वाली सभी लहरें जल ही होती हैं। अलंकार और लहरें अनेकत्व का आभास देती हैं परन्तु न तो उनको दृष्टिभ्रम ही कहा जा सकता और न ही वे स्वर्ण अथवा जल से विलग सत्य ही कहे जा सकते हैं। वे अपना पृथक अस्तित्व रखते हुए से भासित होते हैं, परन्तु इस पृथकता के आभास में भी सर्वकाल एक तत्त्व ही बने रहते हैं। प्रत्येक आभूषण स्वर्ण है और स्वर्ण के अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं है; प्रत्येक लहर जल है और समुद्र के जल के अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक रूप, अनहद नाद, और ईश्वर की अन्य कोई भी अभिव्यक्ति ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि विभिन्न लहरें समुद्र का एक अंशमात्र है, सम्पूर्ण समुद्र नहीं। स्वर्ण और आभूषण या अग्नि और उसका स्फुलिंग अथवा सूर्य व उसकी किरणें एक दूसरे से इसी प्रकार सम्बन्धित है। ठीक वैसे ही पारमार्थिक अनुभवों के लिए भी यह कहा जा सकता है कि वे सभी दिव्य होते हुए भी न केवल ईश्वर के अंश या पक्ष

हैं बल्कि वे उससे भिन्न भी हैं। परन्तु हमें दृष्टांत का सारूप्यता समझने की भूल नहीं करनी चाहिए और न ही उपमान स्वरूप प्रस्तुत तथ्य को उपमेय अर्थात् जिसका वह उदाहरण है समझना चाहिए। निश्चित रूप से कहना पड़े तो हम यही कहेंगे कि ईश्वर में व उसके विभिन्न रूप–दर्शनों में अंशी–अंश भाव रहता ही नहीं क्योंकि दिव्य, आनन्दमयी, चेतन सत्ता एक और अविभाज्य है। भौतिक जगत से सम्बन्धित विज्ञान भी इसे सत्य घोषित करते हैं। ध्वनि, प्रकाश, बिजली और रेडियो–धर्मिता, नाभिकीय ऊर्जा तत्त्व की दृष्टि से एक ही है चाहे अपने अपने व्यापार की दृष्टि से भिन्न दिखाई देते रहें। शायद यह भी कहा जा सकता है कि पानी की एक बूँद में और घड़े में भरे हुए पानी में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं होते हुए भी एक बूँद मनुष्य की प्यास नहीं बुझा सकती। इसी प्रकार ईश्वर का कोई भी रूप–दर्शन अथवा उसका ही जिसे प्रतिरूप का जा सके वह मानसिक प्रतिमा अथवा प्रस्तर मूर्त्ति जो पानी के बूँद के समान ही है एक व्यक्ति की आध्यात्मिक तृषा को उतनी शान्त नहीं कर सकती जितनी ईश्वर के समग्र दर्शन और अर्चन से होगी। परन्तु यह काल्पनिक सन्देह भी ठहर नहीं सकता क्योंकि मूत्तियों और प्रतिमाओं से भिन्न यह पारमार्थिक रूप–दर्शन ऐसा विशिष्ट होता है कि एक भक्त उसकी वृद्धि को न केवल विस्तार और घनत्व में ही बल्कि पूर्णरूप से विभिन्न आकारों, रंगों और परिमाणों में परिवर्तित होते हुए देखता है। अंश अंशी में और अंशी अंश में परिवर्तित होता है। मानवीय आकार के एक अंग की तरह प्रकट होने वाला रूप पूर्ण देह में या फिर किसी अन्य रूप में पुनः प्रकट हो सकता है। एक साधारण काले रंग का बिन्दु विशाल संकेन्द्रित वृत्तों का आकार ग्रहण कर पृथ्वी और आकाश दोनों को छूने वाला तथा विभिन्न चमकीले आकर्षक रंगों से पूर्ण हो सकता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि साधक की दृष्टि से ये नाना रूप, नाद व अन्यान्य पारमार्थिक अनुभव जो उसके लिए पूजा और श्रद्धा के विषय बनते हैं सत्य ही है और इस दृष्टि से अनेकतावादी या बहुदेववादी कहे जा सकते हैं, परन्तु तात्विक दृष्टि से वे सभी एक ही चरम सत्ता जिसे चाहे ईश्वर कह लो या निरपेक्ष सत्ता कह लो– के गतिशील जीवन की विभिन्न अभिव्यक्तियें ही हैं और इसीलिए कहना पड़ेगा कि नानात्व केवल भासमान होता है, अन्तिम सत्य नहीं है। ईश्वर में ये अनन्त रूप पहले से ही ईश्वर में विद्यमान है और भक्त के लिए शनैः शनैः प्रकट किए जाते हैं। वास्तव में किसी एक रूप में व दूसरे अन्य किसी रूप में अथवा उनमें से किसी में और ईश्वर में कोई आवश्यक भेद है ही नहीं। इसी के उपसिद्धान्त के रूप में यह कहा जा सकता है कि एक संत जिसे किसी एक रूप के दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ है और दूसरा संत जिसे किसी अन्य रूप के दर्शन का सौभाग्य मिला है इन दोनों में भी कोई आवश्यक भेद नहीं है। जिस प्रकार एक मूर्त्ति और दूसरी मूर्त्ति में भेद होता है या एक मानसिक प्रतिमा दूसरी मानसकि प्रतिमा से भिन्न होती है उसी प्रकार एक रूप दूसरे रूप से अथवा वे सभी एक ईश्वर से भिन्न हैं ऐसा मानना भ्रामक है और इस दुराग्रह का परिचायक है कि 'बहुदेववाद' व 'एकेश्वरवाद' मूलभूत रूप में एक दूसरे से भिन्न होने ही चाहिए और इसी दुराग्रह के कारण यह कहा जाता है

कि हिन्दू धर्म अपने मूल रूप में एकेश्वरवादी नहीं है। परन्तु इसके विपरीत यह एक ऐसी विशेषता है जिसका हिन्दू धर्म को अभिमान होना चाहिए। साक्षात्कारी एकेश्वरवाद जिसमें वैदिक युग से हिन्दू विश्वास करते आ रहे हैं और जिसके सत्य के विषय में उसके अनुयायी प्रत्यक्ष और जीवन्त अनुभवों के कारण निःसंशय हो गए हैं अनेक देवताओं और देवियों की पूजा का तिरस्कार तब तक नहीं करते जब तक कि वह एक ईश्वर की ओर जाने में बाधा न बन जावे और साधक उनको ही सबकुछ समझने न लग जावे। परन्तु उनको समर्पण, ध्यान और प्रार्थना द्वारा एक सत्य, परमेश्वर की ओर ले जाने की प्रक्रिया के रूप में सदैव आदर प्राप्त होता रहा है।

[६]

नैतिक और बौद्धिक तैयारी

दीक्षा के साथ ही साधक ने पारमार्थिक जीवन की दहलीज पार कर ली है, वह अब योग्यता–परीक्षण तक इस नवीन जगत का नागरिक बन गया है।